डा० श्याम बहादुर वर्मा

भूमिका

श्री अरविन्द (१८७२-१९५०) आधुनिक भारत के महान चिन्तकों में अग्रगण्य हैं। उनके जीवन-चरित्र में जैसी अद्‌भुत तेजस्विता, जैसा उत्कृष्ट ध्येयवाद, जैसी विमल आध्यात्मिकता और जैसी दिव्य कर्मशीलता मिलती है, उससे उनके विचारों की गरिमा का अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु जब हम वस्तुत: उनके विचारों को जानने के लिए उनके भाषणों, लेखों, कृतियों तथा समय-समय पर किए गए वार्तालापों और इनके अतिरिक्त शिष्यों आदि को लिखे गए पत्रों की विशाल सामग्री का अवलोकन करते हैं तो यह देखकर सहज ही आश्चर्य होता है कि उनके विचार-दर्शन में अद्‌भुत तेजस्विता, उत्कृष्ट ध्येयवाद, विमल आध्यात्मिकता और दिव्य कर्मशीलता का परिपाक तो है ही, विश्लेषण, समन्वय और भविष्य-दर्शन की विलक्षण सामर्थ्य जैसे भव्य गुण भी हैं। और फिर उनके चिन्तन में एक विशिष्ट सुसम्बद्धता है, एक विशाल व्यापकता है, एक गहरी मननशीलता है, अतीत को भेदने वाली अत्यन्त सूक्ष्म व पैनी दृष्टि है, परिपूर्ण-सी अभिव्यक्ति है अर्थात् योगी-दार्शनिक-कवि की सभी विशेषताएं हैं।

श्री अरविन्द के विशाल साहित्य को उसकी जटिलता के भय से कितने ही पाठक इच्छा होते हुए भी नहीं पढ़ पाते, किंतु उनके विचारों में जटिलता कहां है ! अत: मुझे लगा कि विभिन्न विषयों पर श्री अरविन्द के प्रेरणादायी विचारों को आज के पाठक की भाषा में रखा जाए तो वह वर्तमान परिस्थितियों में आत्मविकास, राष्ट्र-विकास तथा विश्वविकास को ठीक गति दे सकेगा। उपलब्ध अनेक ग्रंथों को देखने के पश्चात यही लगा कि हिंदी साहित्य में अभी ऐसी कृति का अभाव ही कहा जाएगा जो श्री अरविन्द के अगाध विचार-दर्शन के प्राय: सभी महत्त्वपूर्ण (सामान्य पाठक की दृष्टि से) क्षेत्रों का परिचय कराने में समर्थ हो। यही नहीं, यह भी लगा कि श्री अरविन्द को राष्ट्र-प्रेरक कम, विश्व-प्रेरक अधिक दिखाने के लिए भी, जाने या अनजाने में, जो प्रयास हो रहे हैं, उन्हीं का दर्शन अंग्रेजी व हिंदी की कृतियों में प्राय: होता है। प्राय: यही महापुरुषों के साथ होता भी रहा है कि उनके किसी एक पक्ष को ही अधिक महत्त्व देकर अन्य पक्षों की उपेक्षा कर दी गई है और इसके परिणामस्वरूप एकांगी दृष्टि ही विकसित हो पाई है।

किंतु सर्वांग दर्शन के प्रतिष्ठापक श्री अरविन्द को एकांगी दृष्टि से प्रस्तुत करना तो अक्षम्य अपराध ही कहा जाएगा। श्री अरविन्द की आत्मविकास-यात्रा में राष्ट्र-आत्मा के साक्षात्कार की महत्त्वपूर्ण मंजिल की उपेक्षा करना क्या श्री अरविन्द को समझना और उनका अनुकरण करना है ? वस्तुत: राष्ट्र को समर्पित

होने के कारण ही श्री अरविन्द भागवत चेतना के प्रति भी पूर्ण समर्पित हो सके थे। यदि वे राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-संघर्ष या राष्ट्रजीवन के अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों के प्रति उदासीन होते, तो उनका तत्त्व-दर्शन भले ही उन्हें परमात्मा की ओर बहुत दूर तक ले जाता, उनकी शिक्षा में वह जीवनशक्ति नहीं आ पाती जो उसमें आज है, और उनके विचारदर्शन में वह पूर्णता भी नहीं आ पाती जो उसका गौरव है।

किंतु राष्ट्रवादी श्री अरविन्द केवल राष्ट्रवादी नहीं हैं। वे उसी के विकास-स्वरूप भारत-एकतावादी भी हैं (अन्तर्राष्ट्रीयतावादी नहीं)। मानव-जीवन को उत्कृष्टतर करने के लिए जीवन के विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित उनके विचारों में भविष्य को ढालने की अद्भुत प्रेरणा है। वे अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र के एक जागरूक द्रष्टा तो थे ही, उसमें अपनी आध्यात्मिक शक्ति तथा विचार-सामग्री से योगदान करने वाले सक्रिय योगी-दार्शनिक भी हैं। अत: उनके विचारों की परिधि में विश्व-इतिहास, विश्व-राजनीति, विश्व-युद्ध, राष्ट्रसंघ आदि सभी आते हैं।

किंतु मानवता ही उनके विचार-दर्शन की सीमा नहीं है। वे उससे भी आगे बढ़ते हैं। तत्त्वदर्शन के दुर्गम अरण्य में वे एक सीधा राजमार्ग बनाते हैं। मानवता, राष्ट्र, व्यक्ति, सभी प्राणी, जड़-चेतन सभी उस विचार की परिधि में आते हैं। यहां वेदान्त, सांख्य, योग, पाश्चात्य दर्शन आदि सभी अपना उचित स्थान पाते हैं। द्वैत, अद्वैत, मायावाद, बौद्ध दर्शन आदि के साथ ही पता नहीं कितनी अन्य दार्शनिक धाराएं इस भागीरथी में आकर मिली हैं! किंतु जैसे गंगा अपनी प्रमुखता के कारण सब धाराओं के सम्मिलित स्वरूप में भी 'गंगा' ही कहलाती है, वैसे ही श्री अरविन्द का तत्त्वदर्शन भी 'वेदान्त' ही कहलाता है और अधिक स्पष्टता के लिए उसे 'यथार्थतावादी वेदान्त', 'सक्रिय वेदान्त' इत्यादि भी कह दिया जाता है। तथापि यह तत्त्वदर्शन सचमुच तत्त्वदर्शन है, केवल 'फिलासफ़ी' नहीं, 'विचारों की बुनाई' मात्र नहीं। यह साधना से अनुभूत सामग्री का बौद्धिक व्यवस्थापन है। अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से विश्व की अनेकता और ब्रह्म की एकता के सम्बन्धों व रहस्यों का विश्लेषण, विवेचन तथा उद्घाटन है! यह काल्पनिक उड़ान नहीं है, बौद्धिक व्यायाम नहीं है, अपितु 'चन्द्रलोक यात्रा' जैसी भौतिक उपलब्धियों से कहीं अधिक महत्त्व की परमतत्त्व तक के अगणित लोकों की आध्यात्मिक यात्रा का अत्यंत सजीवता, निष्ठा तथा अन्य अभिव्यक्ति के साथ नवीनतम वर्णन है।

किंतु तत्त्वदर्शन की यह बहुमूल्य सामग्री व्यर्थ-सी हो जाती यदि इसकी पुष्टि के लिए योग की साधना-प्रणाली पर श्री अरविन्द ने प्रकाश न डाला होता। उनके योग-सम्बन्धी विचारों की बहुत बड़ी मात्रा आज प्रकाश में आ चुकी है। उनके द्वारा साधकों के मार्गदर्शनार्थ लिखे गए पत्रों में भी योग-संबंधी महत्त्वपूर्ण विचार प्रचुरता से मिलते हैं।

प्रस्तुत कृति में श्री अरविन्द के विचार-दर्शन के इन्हीं चार महत्त्वपूर्ण पक्षों

पर सामग्री सँजोई गई है। उनके राष्ट्रचिंतन, मानवता-सम्बन्धी चिंतन, तत्त्वदर्शन और योग-सम्बन्धी विचारों में से योग-सम्बन्धी विचार बहुत महत्त्वपूर्ण होने पर भी, अत्यन्त संक्षेप से दिए गए हैं। इसके दो कारण हैं—प्रथम तो ऊपर दिया जा चुका है अर्थात योग-सम्बन्धी विचारों का अधिक प्रचार तथा सहज उपलब्धता; और द्वितीय है योग की साधनात्मक महत्ता, मात्र बौद्धिक नहीं। उचित मार्गनिर्देशन, दृढ़ संकल्प तथा अविचल गतिशीलता से ही श्री अरविन्द-योग को समझा जा सकता है, उसका प्रयोग किया जा सकता है और इसके लिए श्री अरविन्द-आश्रम का महत्त्वपूर्ण आश्रय लिया जा सकता है, कोरा विचार वहां निरर्थक है।

विचारों के संकलन में राष्ट्र एवं मानवता-सम्बन्धी विचारों में से अनेक को, तात्कालिक विश्व परिस्थितियों में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, यहां सम्मिलित नहीं किया गया है। जितने भी विचार संकलित हैं, उनका उद्देश्य आज के भारतीय तरुण को प्रेरित करना, उसके मन को आन्दोलित करना तथा व्यक्ति, राष्ट्र, मानवता के स्वरूप को स्पष्ट कर देना है। यदि इनसे इस दिशा में थोड़ा भी लाभ उठाया गया तो मेरा परिश्रम सफल होगा।

प्रस्तुत कृति में दो खण्ड हैं—प्रथम खण्ड में कुछ विवेचनात्मक निबन्धों का संकलन है और द्वितीय खण्ड में विविध विचारों को संक्षिप्त विवेचना के साथ प्रस्तुत किया गया है, प्रथम खण्ड में प्रारम्भिक तीन लेख, तीन विद्वानों की विशेष कृपा का फल हैं। प्रथम लेख 'श्री अरविन्द का जीवन और दर्शन' स्वर्गीय श्री गुरुजी द्वारा इन्दौर में श्री अरविन्द जन्म-शताब्दी-समारोह में दिया गया भाषण है जो एक लोकोत्तर चेतना का प्रसाद ही कहा जाएगा। द्वितीय लेख 'भारतीय दर्शन को श्री अरविन्द की देन' डा० सिद्धेश्वर भट्ट (रीडर, दर्शन-विभाग, दिल्ली विश्व-विद्यालय) द्वारा लिखित है तथा दर्शन के क्षेत्र में एक अनुभवी आचार्य व प्रसिद्ध लेखक के मनन का परिणाम है। तृतीय लेख 'श्री अरविन्द का वेद-दर्शन' श्री प्रह्लादकुमार (संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) द्वारा लिखित है तथा वेद के एक गंभीर अध्येता द्वारा श्री अरविन्द के वेद-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विचारों का भव्य मूल्यांकन है। इन तीनों लेखों के लिए मैं उक्त विद्वानों के प्रति कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत कृति को तैयार करने में श्री अरविन्द के साधक भक्तों तथा अन्य अनेक विद्वानों की कृतियों से जो सहायता मुझे मिली है उसके लिए मैं उनका अत्यधिक ऋणी हूँ। अनुशीलन पुस्तकालय (बरेली), डी० ए० वी० सांध्य कालेज पुस्तकालय (दिल्ली), हरदयाल पुस्तकालय (दिल्ली) से मिली सहायता के लिए मैं उनके अधिकारियों के प्रति तथा कु० ऊषारानी, कु० इन्दिरा अग्रवाल, भाई धर्मेन्द्र वर्मा इत्यादि की बहुविध सहायता के लिए मैं उनके प्रति हृदय से आभारी हूँ।

—श्यामबहादुर वर्मा

विषय-सूची

निबन्ध — पृष्ठ

१. श्री अरविन्द का जीवन और दर्शन — ११
२. भारतीय दर्शन को श्री अरविन्द की देन — २१
३. श्री अरविन्द का वेद-दर्शन — २८
४. श्री अरविन्द की समाज-कल्पना — ३६
५. शिक्षा और राष्ट्रीय शिक्षा — ४१
६. वर्तमान के लिए श्री अरविन्द का सन्देश — ४८

विचार-प्रवाह

७. भारत-राष्ट्र — ६१
८. मानवता — ६४
९. तत्त्वदर्शन — १०६
१० योगसाधना — १२६
परिशिष्ट (क) — १३७
परिशिष्ट (ख) — १४६

निबन्ध

१. श्री अरविन्द का जीवन और दर्शन

यह वर्ष अपने लिए बहुत महत्त्व का है। अब से २५ वर्ष पूर्व १५ अगस्त को अंग्रेजों के यहां से चले जाने के बाद अपने देश का कारोबार अपने नेताओं के हाथ में आया था और जीवन को उन्नत, सुखी, श्रेष्ठ बनाने का सुअवसर हमें प्राप्त हुआ था। आजकल अनेक जयंतियां मनाने की पद्धति है। सर्वसाधारण लोगों में उत्साह लाने के लिए इसका महत्त्व अवश्य है परन्तु उससे अधिक नहीं। राष्ट्र-कार्य अखण्ड चलता है उसकी जयंतियां मनाने का समय हमारे पास रहना ही नहीं चाहिए। उस प्रयास में ही सम्पूर्ण शक्ति संलग्न हो जानी चाहिए, ऐसी हमारी पुरानी धारणा है। परन्तु सामान्य जन के उत्सव-प्रिय होने के कारण, ये प्रसंग कुछ उत्सव एवं चैतन्य देने वाले हो सकते हैं। अपनी परम्परा में कोई २५ वर्ष बाद आने वाली रजत-जयन्ती है या नहीं, मैं नहीं जानता, किन्तु विदेशों में है। हम जहां अनेक विदेशी बातें करते हैं, वहां 'रजत-जयन्ती' भी मनाते हैं, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह जयन्ती मनाई, ईश्वर की कृपा हुई तो देश के लोगों में अपने दायित्व का बोध जागेगा और अपने देश तथा समाज की सब प्रकार की उन्नति करने के लिए हम सब कटिबद्ध हो जायेंगे, ऐसी मैं आशा करता हूं।

किन्तु इसके साथ ही मेरी दृष्टि में जो अधिक महत्त्व का है, बहुत महत्त्व का है, वह यह है कि अंग्रेजी काल-गणना के अनुसार १५ अगस्त योगीराज अरविन्द की जन्म-तिथि भी है। उन्होंने स्वयं कहा था कि यह कोई संयोग नहीं है कि अंग्रेजों से अपने देश का छुटकारा उसी दिन हुआ। उन्होंने यह भी कहा कि इसका अर्थ है कि जिस लक्ष्य के प्रति मेरा सम्पूर्ण जीवन समर्पित हुआ है, वह भगवान को मान्य है और उसे भगवान आगे बढ़ाएंगे। यह संयोग मानो उसका प्रमाण है। इसलिए यह पवित्र अवसर दोनों दृष्टि से, व्यावहारिक दृष्टि से स्वाधीनता रजत-जयन्ती के रूप में तथा व्यावहारिक, आध्यात्मिक इत्यादि सब कुछ मिलाकर बनने वाली सर्वांगीण दृष्टि से योगीराज अरविन्द की जन्म-शताब्दी के रूप में हमें प्राप्त हुआ है। समारोह करना सरल है किन्तु जिसके स्मरण हेतु हम यह समारोह कर रहे हैं, उससे कुछ ग्रहण करना अधिक आवश्यक है।

उनके जीवन के बारे में सबने सुना होगा क्योंकि शताब्दी समारोह के कार्यक्रम

कई दिनों से चल रहे हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन दिनों अंग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों में अंग्रेजियत के प्रति प्रबल प्रेम रहता था। उसी प्रकार का प्रबल प्रेम अरविन्द जी के पिता के मन में भी था। वे स्वयं इंग्लैण्ड से उच्च शिक्षा प्राप्त करके आए हुए थे। वे एक सफल चिकित्सक थे। उनका सर्वदूर नाम था और शासनकर्त्ता अंग्रेजों में भी उनकी बड़ी मान्यता थी। उस समय कुछ विचित्र पुरुष उत्पन्न हुए थे, जो भारत के सम्बन्ध में गाली-गलौज करते थे। आप गाली-गलौज तो नहीं करते थे परन्तु फिर भी सोचते थे कि विदेश का जीवन ही प्रगतिशील है और वहां के वायुमण्डल का प्रभाव अपने पुत्रों पर पड़ना चाहिए, अतः अपने पुत्रों को इस देश की हवा तक न लगने देने की दृष्टि से उन्होंने श्री अरविन्द को बहुत छोटी आयु में एक अंग्रेज द्वारा चलाए गए कान्वेंट स्कूल में भर्ती कर दिया और ७ वर्ष की आयु में उन्हें इंग्लैण्ड भेज दिया। ऐसी कोमल आयु में मनुष्य चारों ओर के वातावरण में सभी प्रकार के संस्कार ग्रहण करता है और फिर जीवन भर उन संस्कारों से छुटकारा नहीं पाता।

इंग्लैण्ड में ही उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई, जिस घर में रहे, वे भी अत्यन्त सज्जन पुरुष थे। ईसाई मत को मानने वाले थे किन्तु अन्तःकरण में भक्ति रखने वाले थे। किसी भी मत को मानने वाला यदि शुद्ध भक्ति रखता है तो वह श्रेष्ठ ही है। वहां यूरोपीय जीवन-पद्धति, यूरोपीय सभ्यता, यूरोपीय वाङ्मय का अध्ययन उन्होंने किया। भारत के सम्बन्ध में तो उनके कान पर यह भूगोल में एक देश है, यही पड़ा था। बाकी यहां की जीवन-परम्परा, इतिहास आदि कुछ भी उन्हें मालूम नहीं था।

उन्होंने १४ वर्ष वहां पर बिताए। परन्तु मेरा विचार है कि मनुष्य का पूर्व-जन्म भी कुछ होता है। असामान्य पुरुषों के लिए पूर्वजन्म की बात छोड़ दें तो भी उनकी स्वतः सिद्ध ऐसी व्यक्तिमत्ता रहती है कि वे किसी भी प्रकार का जन्म अपने व्यक्तित्व के प्रकाश के लिए ग्रहण करते हैं। इसलिए श्री अरविन्द ने अंग्रेजों की सर्वोच्च नौकरी का साधन अर्थात् वहां रहकर आई० सी० एस० परीक्षा अच्छी तरह उत्तीर्ण कर ली, परन्तु घुड़सवारी की परीक्षा में गए ही नहीं। इसलिए उनको आई० सी० एस० बनने का कोई संयोग प्राप्त नहीं हुआ। मन में विचार था कि अंग्रेजों के दास क्यों बनें ? इतिहास से उन्हें यह जरूर पता था कि भारत को दास बनाने वालों की नौकरी करने का रास्ता अपने लिए उचित, लाभदायक अथवा शोभनीय नहीं हो सकता। इस प्रकार उनके अन्तःकरण में भारत के लिए जो स्वाभाविक प्रीति थी, वह सहज रूप से वहां प्रकट हो गई और फिर वह हिन्दुस्तान चले आए।

संयोग से उन्हीं दिनों में जब वे हिन्दुस्तान आने वाले थे, बड़ौदा के राजा इंग्लैण्ड में ही थे। वे बड़े बुद्धिमान, गुणी लोगों का संग्रह करने वाले और अपने

राज्य को उत्तम रीति से चलाकर सबके सामने आदर्श प्रस्तुत करने वाले थे। इसलिए अच्छे-अच्छे भारतीय लोगों को जो इंग्लैण्ड में पढ़ने के लिए गए हों, छांट-कर अपने यहां नौकरी में लाने का उनका नित्यक्रम था। उस समय अरविन्द जी की उनसे जान-पहचान करा दी गई और श्री अरविन्द से प्रभावित होकर महाराजा ने उन्हें अपने यहां नौकरी के लिए आमंत्रित कर दिया। श्री अरविन्द ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया और बड़ौदा में उनके जीवन के कई वर्ष बीते यानी १८९३ से १९०६ तक १३-१४ वर्ष विभिन्न प्रकार के काम करते हुए बीते।

जब वे भारत वापिस आए तो उनको जो पूर्व में अनुभव हुआ था उसी अनुभव के आधार पर उन्होंने अपना विकास करना प्रारम्भ कर दिया। पहले उन्हें यह अनुभव आया कि मानो एक महान ज्योति उनके हृदय के अन्दर प्रवेश कर गई। भारत का एक दिव्य आध्यात्मिक रूप उनकी आंखों के सामने खड़ा हो गया और उनके अन्दर प्रवेश कर गया और जीवन में एक बड़ी शांति छा गई। विदेश में रहते समय जो उन्हें अंधेरा-ही-अंधेरा हृदय के अन्दर छाया हुआ प्रतीत होता था, वह क्षण-मात्र में छंट गया और प्रकाश, ज्ञान, शांति एवं पावित्र्य एकदम उद्भावित हो गए। भारत की महिमा ही ऐसी है। इसीलिए अपने लोगों ने कहा है कि इसके कण-कण में पावित्र्य भरा हुआ है, वही अनुभूति उनको आ गई। उस अनुभव को पक्का करने के लिए उन्होंने विचार किया कि इस भूमि पर पदार्पण करते ही मेरे मन में जिन पवित्र भावनाओं का अनुभव हुआ है, उसकी परम्परा को समझना चाहिए। इसमें उत्पन्न हुए इसके पुत्र के नाते अपनी माता की श्रेष्ठताओं को समझना चाहिए। फिर उन्होंने अपनी भाषाओं का अध्ययन चालू किया। अपनी मातृभाषा बंगला (यह भी वह नहीं जानते थे) के अतिरिक्त गुजराती, मराठी, संस्कृत का भी अध्ययन किया। अपनी आध्यात्मिक धरोहर का स्रोत वेदों से चलता है। उस मूल स्रोत का उन्होंने सब प्रकार का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। उनका जीवन नौकरी करने तथा अध्ययन करके विद्वान बनने आदि के लिए नहीं था। एक समय आता है जब मनुष्य को उसके जन्म के हेतु, एक जीवन-लक्ष्य, का परिचय करा देने वाला कोई-न-कोई मिल जाता है। विचार उत्पन्न हुआ कि सम्पूर्ण जीवन की साक्षात् मूर्ति अपने सामने खड़ी होनी चाहिए, उसके लिए मन एवं बुद्धि का सामर्थ्य बढ़ाना आवश्यक है। अपने यहां बोला गया है कि यह सामर्थ्य योग के अभ्यास द्वारा प्राप्त होता है, कुछ आसन कर लेना, प्राणायाम कर लेना इसको ही सामान्यतया लोग योग मानते हैं। किन्तु यह तो योग का बाह्य रूप मात्र है।

योग में मुख्य बात है मन की समूची वृत्तियों को शांत करना, विचारों पर अपना पूर्ण अधिकार कर लेना, अन्तःकरण पूर्ण रीति से शुद्ध कर लेना, सब संस्कारों को प्राप्त करने की क्षमता अपने अन्दर पैदा करना आदि। किन्तु कोई-न-कोई इनकी शिक्षा देने वाला चाहिए। महापुरुषों को ऐसे कोई-न-कोई सज्जन

मिल जाते हैं। यहां पर उनको लेले नाम के सज्जन मिले। उन्होंने योग का काफी अध्ययन किया था तथा वे काफी ऊंची स्थिति तक पहुंचे हुए थे। उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त कर वे थोड़े ही समय में परिपूर्ण हो गए।

महापुरुषों में ऐसा ही होता है। गुरु के नाते जो आता है वह पिछड़ जाता है और मार्ग-दर्शन प्राप्त करने वाला कहीं आगे बढ़ जाता है। लोग कहते हैं कि लेले के बारे में भी ऐसा ही हुआ। महाप्रतिभावान और पूर्वजन्म के अनेक सत् संस्कार एवं आधिकारिक व्यक्तिमत्ता को लेकर आए हुए शिष्य अर्थात् श्री अरविन्द उनसे कहीं आगे बढ़ गए। अपने यहां पर शास्त्र में एक जगह कहा गया है कि गुरु का शिष्य को उपदेश करना यह व्यवस्था का पालन करना है। परन्तु ज्ञान की प्राप्ति शिष्य की अपनी प्रज्ञा के आधार पर होती है।

जब गुरु के मार्ग-दर्शन से भी आगे बढ़कर उन्हें अनेक प्रकार के अनुभव आने लगे तब चारों ओर की परिस्थितियों से भी वे अलिप्त नहीं रहे। राजनीतिक आन्दोलन चल रहे थे। कांग्रेस विभक्त हो गई थी। सूरत के अधिवेशन में गरम एवं नरम दल बन गए थे। उधर बंग-भंग का समय भी था। क़र्ज़न वगैरह जिनके बारे में लोग कहते हैं कि वे बड़े दुष्ट थे, मैं उनके प्रति कृतज्ञ ही हूं, क्योंकि बंग-भंग जैसी विचित्र बात करके उन्होंने सोये देश को जागृत किया। समग्र देश की प्रखर चेतना को प्रकट किया और उस प्रखर चेतना का मार्ग-दर्शन करने का अवसर श्री अरविन्द को भी उसी कारण प्राप्त हुआ। उनके अन्तःकरण में यह विचार आया कि परकीयों को वास्तव में यहां राज्य करने का कोई अधिकार नहीं है। अपने देश की विशिष्ट प्रकार की परम्परा व संस्कार जगत को देने के लिए हैं। उसके लिए उसे स्वतन्त्र रूप से विकसित होना चाहिए। सभी प्रकार के क्षेत्रों में स्वतन्त्रता प्राप्त करा देना यह आध्यात्मिक दृष्टि से जगत के कल्याण का एक मार्ग है। अन्तःकरण में ऐसी भावना होने के कारण, लेखों एवं भाषणों द्वारा लोगों को जागृत करने के प्रयत्न में उन्होंने प्रमुखता से भाग लिया। बंग-भंग होने के दिनों में कांग्रेस के अधिवेशन में वे उपस्थित थे। बंग-भंग के कारण उनका कार्य-क्षेत्र बंगाल हो गया।

उनकी वाणी की प्रखरता, तेजस्विता, एक विशेष प्रकार की थी। उसमें परकीय राज्य का विरोध तो अवश्य था परन्तु उस सब विचार की नींव ऐहिक मात्र नहीं थी अपितु आध्यात्मिक थी। वे भारत को स्थूल दृष्टि से नहीं देखते थे। वे कहते थे, यह जीवन्त है, चेतनामय है, कंकड़-पत्थर नहीं है, यह प्रत्यक्ष जगत-जननी का स्वरूप है। यह जो कुछ वह कहते थे, वह तो बहुत प्राचीन बात है, परन्तु हम लोग उसे भूल गए। हम लोग प्राचीन काल से प्रतिदिन अपनी मातृ-भूमि को प्रणाम करके, और 'विष्णु-पत्नि नमस्तुभ्यं' कहकर उसे जगत-जननी घोषित करते आए हैं किन्तु आज वह शब्द मात्र रह गए, उसकी अनुभूति शेष नहीं

रही। अरविन्द जी के अन्तःकरण में वह अनुभूति थी, इसलिए उनका जितना भा-राजनैतिक कार्य था, वह एक आध्यात्मिक स्तर का था। अब इसको समझने में उनके साथी बड़ी कठिनाई का अनुभव करते थे, यहां तक कि उनके भाई जो बड़े क्रान्तिकारी थे, जिनसे मेरा बहुत पुराना परिचय था, वे भी श्री अरविन्द को समझने में अपने आपको असमर्थ अनुभव करते थे। श्री अरविन्द कहते थे कि भौतिक या स्थूल दृष्टि से स्वातन्त्र्य आदि बोलने में कोई अर्थ नहीं रहेगा। भारत का संसार के लिए जो जीवन है वह केवल भौतिक नहीं है वह बहुत ऊंचे स्तर का है और उसकी ही पूर्ति करने के लिए हम जीवित हैं। इसलिए उसी प्रकार से अपना राष्ट्र-जीवन विकसित करने की आवश्यकता है। यह बात वे बार-बार बोलते रहे। तात्कालिक प्रतिक्रिया से उत्पन्न राष्ट्रभक्ति पर उनका विश्वास नहीं था। वे सोचते थे कि प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न हुए समस्त प्रयत्न विफल होंगे। कुछ दिनों तक यश दिखाई देने के बाद वे नष्ट-भ्रष्ट होंगे। इसलिए जो आन्दोलन करना है वह आध्यात्मिकता की ठोस नींव पर ही करना चाहिए जिसमें कोई प्रतिक्रिया का भाव न होते हुए, किसी के प्रति विद्वेष या शत्रुता का भाव न होते हुए, समग्र जगत को हम कुछ देने के लिए अवतीर्ण हुए हैं, अखिल मानव जाति को सुख-समृद्धि से परिपूर्ण करने के लिए हैं—इस प्रकार का विचार लेकर अपने राष्ट्र-जीवन का स्वरूप पुनः सबके सामने रखना चाहिए। ऐसा सोचकर ही वे अपने सब विचारों को आध्यात्मिक प्रतिष्ठान पर आधारित करते थे।

बंगाल में अंग्रेजों के विरुद्ध अलीपुर बम विस्फोट हुआ। उसमें अरविन्द के भाई बारीन्द्र थे। लोग कहते हैं कि अरविन्द भी थे और मैं भी ऐसा ही मानता हूं कि अपनी आन्तरिक चेतना के द्वारा सबको प्रेरणा देते हुए वे अवश्यमेव थे। इस विस्फोट के प्रकट हो जाने से सरकार ने अनेक लोगों पर अभियोग चलाने का प्रयास किया। बारीन्द्र तो पकड़े ही गए किन्तु साथ में बड़े भाई अरविन्द भी। जेल के एकान्त में अपने जीवन के भावी मार्ग का निर्णय करने का समय उन्हें मिल गया। लेले के पास से जो योग उन्होंने सीखा था उसे आगे बढ़ाने की इच्छा उनके मन में उत्पन्न हो गई। इच्छा के अनुसार वे प्रयत्न में लगे। श्रेष्ठ पुरुष श्रेष्ठ लक्ष्य को सामने रखकर प्रयत्न करने लग जाते हैं तो उन्हें सभी प्रकार की सहायता मिलती है। जैसे पूर्व समय में उन्हें लेले मिल गए, वैसे ही कारागार में किसी व्यक्ति के मिलने की संभावना तो नहीं थी, परन्तु उन्होंने स्वयं कहा है कि मुझे विवेकानन्द स्वामी का दर्शन हो गया, उनकी वाणी सुनाई पड़ती थी। मैं जो अभ्यास करता उसमें यदि त्रुटियां रह गई तो वे ठीक करते थे। और जब तक मेरा अभ्यास पूर्ण नहीं रह गया तब तक उनकी वाणी निरन्तर मुझे सुनाई दी। इस प्रकार एक बड़ा जगद्गुरु, गुरु के रूप में, देहातीत अवस्था में, उन्हें प्राप्त हो गया। उनके मार्गदर्शन में योग की जटिल समस्याएं हल करते हुए एक बड़ा

साक्षात्कार हुआ, वह यह कि सर्वदूर भगवान है। उन्हें जेल के दरवाजे में, जेल की दीवारों में और वहां के कार्यकर्ताओं में, सबमें भगवान का दर्शन हुआ। 'वासुदेवः सर्वमिति' की दुर्लभ व महान अनुभूति उन्हें वहां हुई। यह बहुत श्रेष्ठ स्थिति है और जब उन्हें यह अनुभूति हुई, तो अपना जीवन ही छोड़ दिया। वे कहते कि मनुष्य को भगवान का एक यंत्र बनकर और उनकी इच्छा पर सब छोड़ कर रहना चाहिए। अपना विचार करने की आवश्यकता नहीं। अपने को उनके हाथ में उपकरण के रूप में काम करने के लिए अधिकाधिक योग्यता प्राप्त करने के लिए तथा सब प्रकार की शुद्धत्व से परिपूर्ण होकर अपने अंदर भगवत्-साक्षात्कार हो सके, ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कार्यरत होना चाहिए।

कलकत्ता से बिलकुल सटा हुआ गंगा पार करके चन्द्रनगर है। वहां पर फ्रांस का राज्य था। उन्हें भगवत्-संकेत मिला कि चन्द्रनगर चले जाओ। वहां से दूसरा संकेत मिला कि वहां भी मत रहो, फ्रांस का दूसरा प्रमुख स्थान उपनिवेश पाण्डीचेरी है वहां चले जाओ। वे पाण्डीचेरी चले गए। कैसे-कैसे गए इसका सम्पूर्ण इतिहास तो कोई नहीं जानता। उन्होंने स्वयं बताया नहीं। परन्तु इतना पक्का है कि वे वहां पहुंच गए।

वहां पहुंचकर उसके बाद क्या हुआ, यह कहना सबसे कठिन है। उनके जीवन का यही भाग है जिसको मैं अब तक नहीं समझ पाया हूं, यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है। जब वे बड़ौदा में नौकरी करते थे तभी उनका विवाह हो गया था। उनके पांडीचेरी पहुंचने के कुछ दिनों बाद १९१८ के भयंकर इन्फ्लुएन्जा में उनकी पत्नी की मृत्यु भी हो गई। और वे पांडीचेरी के एकान्त में अपना साधनामय जीवन चलाते रहे। यह तो सामान्य बात है कोई भी समझ सकता है। किन्तु उन्होंने अपना कुछ इधर-उधर लिख कर रखा है। उसमें से हम लोग अन्दर की बातें समझ लेते हैं परन्तु मुख्य बात हमें समझनी चाहिए कि उन्होंने अपने योग के अध्ययन में, उसकी अनुभूति में, अधिकाधिक ऊंचाई तक, गहराई तक, पहुंचकर अनुभव किया कि मनुष्य सामान्य रीति से अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय कोष, इन तीनों कोषों तक सीमित रहता है। उस सीमा को लांघकर उसे विज्ञानमय कोष की सीमा पार जाकर अर्थात मन-बुद्धि-चित्त आदि में स्थित अहंकार आदि को छोड़कर, उससे आगे बढ़कर और सर्वदूर शुद्ध चैतन्य देखने वाली बुद्धि की एक विशेष शुद्धता होती है, उसे प्राप्त करना चाहिए। और उसको प्राप्त करने के पश्चात् उसका भी और अपने चारों ओर जो घेरा पड़ा रहता है, उसको भी तोड़कर आनन्दमय कोष में पहुंच जाना चाहिए। फिर उसमें पहुंचकर भी उनको संतोष नहीं। और इसलिए उन्होंने कहा कि आनन्दमय कोष को भी मनुष्य तोड़ देता है। इसके बाद की स्थिति का वर्णन शब्द नहीं कर सकते। वह

शब्दों के परे की बात है।

यदि मनुष्य इस स्थिति में पहुंच गया, तो कृतकृत्य होना चाहिए क्या ? मेरा बेड़ा पार हो गया, अब कुछ भी करना-धरना नहीं, ऐसा कहकर सब प्रकार से निवृत्त होना चाहिए क्या ? महर्षि अरविन्द ने कहा कि निवृत्त नहीं होना चाहिए। एक व्यक्ति मानो चला गया उससे लाभ नहीं।

असंख्य लोगों को दुखद स्थिति में छोड़कर स्वयं चले जाना कोई बहुत बड़प्पन नहीं है। उन्होंने कहा कि वहां से लौटना चाहिए। लौटने से वहां का जो अवर्णनीय कुछ है, उसका अपने साथ ही आगमन होगा। उसके द्वारा सम्पूर्ण ऐहिक सृष्टि को आध्यात्मिक बनाया जा सकेगा, ऐसा अभिनव विचार उन्होंने रखा। परमतत्त्व-प्राप्ति के कौतूहल के बारे में रामकृष्ण परमहंस एक उदाहरण देते थे। एक बड़ी दीवार है। उसके इस पार सामान्य लोग बच्चों के समान खेल-कूद करते हैं। कुछ लोगों के मन में उस खेल को देखकर विचार आता है कि इसमें कोई अर्थ नहीं। यह जो दीवाल खड़ी है, उसके पार क्या है ? यह देखना चाहिए। कुछ दीवार पर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं। पर चढ़ नहीं सकते। उधर देखने के लिए एक छेद है। पर वह इतनी ऊंचाई पर है कि उससे देख नहीं सकते। इसलिए लोग प्रयत्न छोड़ देते हैं। कुछ लोग बलवान होते हैं, वे छलांग लगाते हैं। छेद से देखते हैं, पर क्षमता न होने के कारण गिर जाते हैं। एकाध होता है जो छलांग लगाकर छेद के उस पार चला जाता है, पर वापिस नहीं आता। रामकृष्ण जी ने बताया कि कुछ ऐसे भी होते हैं जो उस पार जाते हैं तथा स्वेच्छा से उसी छेद से वापिस आकर लोगों को उसका वर्णन बताकर वहां के परम सौख्य का हृदय में सब प्रकार आकर्षण जगाकर लोगों को उसको प्राप्त करने के लिए तैयार करने का प्रयत्न करते हैं। युगों-युगों में एकाध ही ऐसे असामान्य पुरुष उत्पन्न होते हैं, जिनके लिए वहां से वापस आना सम्भव रहता है।

परन्तु उनके आने से हम लोगों का बड़ा लाभ है। जगत में रहने वाले मनुष्य को कोई काम करना ही होता है। हमारी विचार-परम्परा में सब प्रकार का त्याग आता है, किन्तु 'कर्म' का त्याग नहीं। क्योंकि कर्म का सम्पूर्ण त्याग शक्य ही नहीं, तो काहे किसका त्याग करें ? एक तो 'मैं' की भावना अर्थात अहंकार का और दूसरा कर्मफल की आशा का। अहंकार चले जाने के पश्चात मनुष्य, भगवान के हाथ में एक उपकरण हूं, बस इस नाते से काम करेगा। फिर कर्मफल की न कोई इच्छा, न कोई अपेक्षा। उससे अपना कोई प्राप्तव्य नहीं। इस प्रकार की विशुद्ध भावना को लेकर मनुष्य को कर्म के द्वारा ही भगवान की पूजा कर अपने चारों ओर भगवान का साक्षात्कार करने की अर्थात अपने अन्त:करण की सामान्य मनोभूमिका से ऊपर उठकर और भगवान की भूमिका में प्रवेश करने की क्षमता, वैसा ही महापुरुष वापिस आकर हमको दे सकता है। उनका वापस आना इसलिए

हमारे लिए बड़ा ही महत्त्व का रहता है। जगत के कल्याण का यही कार्य महर्षि अरविन्द अपने दीर्घ जीवन में करते रहे। उनकी सम्पूर्ण साधना का लक्ष्य मानव-कल्याण हेतु अन्नमय, मनोमय, प्राणमय आदि सभी कोषों को भेदकर शब्दातीत अवस्था में जाकर वहां से वापिस पृथ्वी पर सम्पूर्ण चेतना के साथ अवतीर्ण होना था।

मन की इस विशुद्ध विज्ञान की भूमिका में, जिसको उन्होंने अतिमानस कहा या भागवत जीवन कहा, मनुष्य को ऊपर उठाकर सम्पूर्ण जगत को भगवती शक्ति से भर देने की स्थिति को ही वे उत्पन्न करना चाहते थे। वे यहां जड़-चेतन सबमें भगवत्-साक्षात्कार सबको होता रहे, ऐसी स्थिति अपनी साधना द्वारा उन्होंने प्राप्त की। ऐसा उन्होंने लिखा है। यह सब बड़ा कठिन है। मैं तो अभी तक नहीं समझ पाया। मानवीय मनोभूमिका में जकड़े हम लोग अतिमानस बोलते ही हक्के-बक्के हो जाते हैं। फिर बीच की एक अधिमानस स्थिति कहने पर और भी सम्भ्रम उत्पन्न हो जाता है। फिर उसको भी लांघकर भगवती सत्ता और उसका अवतरण यह कहते ही मन के अन्दर हर्ष तो उत्पन्न हो जाता है कि वाह भगवती सत्ता का इस धरती पर अवतरण होकर जड़-चेतन सब भगवान बन जाए तो और चाहिए ही क्या? परंतु यह सब बहुत प्रिय तथा अवश्यमेव करणीय दिखने के बाद भी अपनी मर्यादित बुद्धि में बैठता नहीं।

उनकी जन्म-दिन-शताब्दी मनाना ही है तो ये सब समारोह कर देने के बाद हमारे मन में यह निश्चय रहना चाहिए कि हम भी तो उस दिव्य स्थिति को अनुभव करने का प्रयत्न करें। पथ-प्रदर्शक मिलेगा ही। उनको लेले मिले तथा विवेकानन्द स्वामी प्रत्यक्ष आकर मार्गदर्शन करके गए। बाद में प्रत्यक्ष भगवान श्रीकृष्ण चारों ओर दिखाई दिए। कृष्णजी ने कहा—मैं तुमको ले चलता हूं, चलो। भगवती माता एवं साक्षात आदिशक्ति का भी दर्शन उनको हुआ। यदि हम उनके आदर्श सम्मुख रखकर अपना सम्पूर्ण जगत का कर्तव्य करते हुए भी इधर-उधर भटकने वाली वृत्तियों का उस एक स्थान पर केन्द्रीभूत करके प्रयत्न करेंगे तो कुछ मात्रा में ही क्यों न हो, हम लोग भी इस जीवन में आगे बढ़ सकेंगे। इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं।

अब ये उत्सव मनाना अपने यहां साधारण जीवन की प्रणाली में लोगों को प्रिय लगता है परंतु उसका दूसरा भाग कि काम करो, यह कर्म-प्रतिष्ठान है, उसको लोग भुला देते हैं। यह जगत ही कर्मभूमि है। अतः यहां पर उत्तम रीति से कर्म करें। परंतु कर्म क्या करें? जीवन में अनेक प्रकार के काम तो करते ही रहते हैं परंतु महर्षि अरविन्द ने कर्म की ओर ही निर्दिष्ट किया है, जब उन्होंने कहा कि प्राचीन काल से चला आ रहा यह अपना सनातन धर्म ही यहां का राष्ट्रजीवन है। और उसके उद्धार के लिए ही भारत की स्वाधीनता एवं उसका अस्तित्व है।

उन्होंने बहुत निःसंदिग्ध एवं स्पष्ट भाषा में यह कहा कि इस राष्ट्रजीवन को

अपने सम्पूर्ण स्वत्व के साथ खड़ा करके जगत में सर्वश्रेष्ठ बनाना है। उनकी दृष्टि में पूर्व का सम्पूर्ण एशिया खण्ड था। इसलिए वह कहते थे एशिया खण्ड के सम्पूर्ण पौर्वात्य जगत को अपना स्वत्व लेकर खड़ा होना चाहिए। अपनी आध्यात्मिकता को व्यावहारिक जीवन में ढालकर खड़ा हो जाना चाहिए। दुनिया में सर्वश्रेष्ठ बनकर जगतगुरु के नाते खड़े हो जाना चाहिए। यह करने के लिए हमें पाश्चात्य जगत का अनुकरण छोड़ना होगा। उन्होंने साग्रह कहा कि आधुनिक विज्ञान आदि सब ले लो परंतु उसे आध्यात्मिक अधिष्ठान पर विकसित करो। वे कहते थे कि उन्होंने (पाश्चात्यों ने) विज्ञान में बड़ा चमत्कार दिखाया, ग्रहों, उपग्रहों तक पहुंच गए, तो भी क्या हुआ ? वे अभी भी अपने स्वार्थ की अनीति में पड़े हैं। विज्ञान के चमत्कार में कुछ नहीं रखा। एक बार जिसने अपने अन्तःकरण में भगवान का साक्षात्कार कर लिया, वह जानता है कि यह चमत्कार बच्चों का खेल है।

श्री अरविन्द ने कहा कि रोम के लोगों ने इतना बड़ा साम्राज्य अपना चोगा पहनकर ही प्रस्थापित किया था। ग्रीक लोगों ने भी अपनी विशिष्टता के साथ ही बड़े-बड़े पराक्रम किए और ऐहिक दृष्टि से एवं तत्त्वज्ञान की दृष्टि से इतना बड़ा साम्राज्य प्रस्थापित किया। हमें भी अपनी उन्नति के लिए परकीयों का अनुकरण करने की तनिक आवश्यकता नहीं है। अन्धानुकरण से भारत की आत्मा दब जावेगी। भारत का सच्चा विकास अवरुद्ध हो जावेगा। उसकी जो जगत्-हिताय अभिव्यक्ति है, वह रुक जावेगी और हम अपने देश का भला करने के स्थान पर बुरा करेंगे, यह उनका स्पष्ट मत था। मैं यह बात इसीलिए समझ सका हूं क्योंकि मेरे अन्तःकरण में भी यही भाव है और बहुत पहले से रहा है।

इस प्रकार उन्होंने हमारे सामने अपने समाज को, राष्ट्र और धर्म को, ऊंचा उठाने का यह कर्म रखा है। भारत को जगत का मार्गदर्शन करने के योग्य बनाना है। इहलोक के जीवन में भी अपने राष्ट्र को समृद्ध करना है। परंतु ऐसी समृद्धि की आराधना करते समय पश्चिमी देशों में भोगमुखी होने के कारण जो दुष्प्रवृत्तियां आ गई हैं, उनका सर्वथा त्याग करते हुए अपने शुद्ध सात्विक जीवन का ही विकास करने के लिए अपने जीवन की शक्ति लगाना है। और यह सत्कर्म भगवान की पूजा है। वैसे भगवत्गीता में कहा गया है कि मानव अपने यथार्थ उत्कृष्ट कर्म से ही भगवान की पूजा करता है। केवल पत्र-पुष्प से की गई पूजा सच्ची पूजा नहीं है। यह तो केवल औपचारिक, बाह्य रूप मात्र है। सच्ची पूजा तो शुद्ध कर्म है। वास्तविक कर्म को शुद्ध रीति से करते हुए, मेरा कुछ भी नहीं, सब कुछ भगवान का—इस भावना से फलाशा रहित कर्म से ही हम लोग सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। यही एक मार्ग उन्होंने रखा है। अपनी गहन तपस्या में से उन्होंने कुछ सामान्य बुद्धि के समझने योग्य बातें भी कही हैं। हम उनको समझने का प्रयत्न करें। ऐहिक जीवन के अपने

कर्तव्य को करने के लिए हम लोग उनसे कुछ प्रेरणा लेकर आगे बढ़ें। राष्ट्र की इस सनातन धर्म-परम्परा के लिए समर्पित, तथा उसका सम्पूर्ण भव्य भवितव्य प्रकट करने के लिए अपने शुचिता से भरे हुए जीवन का समर्पण करने के लिए अपने जीवन में परिवर्तन कर हम लोग चलें, ऐसा मुझे लगता है। मैं नहीं कह सकता कि मैं कहां तक ठीक बोला हूं। मैंने कोई विचार नहीं किया। श्री अरविन्द का जो कुछ भी पढ़ा था उसको भी पता नहीं कितने वर्ष हो गए, अभी मैं पांडीचेरी गया था वहां श्री मां का दर्शन किया। बोला कुछ नहीं। वह भी कुछ नहीं बोलीं। बहुत शांति एवं गम्भीरता से हम दोनों एक दूसरे की ओर अनिमेष दृष्टि से देखते रहे। कुछ देर बैठे और मैंने सोचा कि उन्होंने मेरे लिए जो कुछ प्रेम से बोला है वह श्री अरविन्द का कर्म का आदेश है। अन्य विशुद्ध कर्म करने के लिए हम आगे बढ़ें। युगों-युगों में एकाध ऐसा पुरुष इस पृथ्वी पर उत्पन्न होता है। ऐसे महान योगी के चरणों में मैं प्रणाम करता हूं।

(—श्री गुरुजी द्वारा १८ अगस्त, १९७२ को इन्दौर में अरविन्द-जन्मशती-समारोह में दिया गया अभिभाषण)

२. भारतीय दर्शन को श्री अरविन्द की देन

श्री अरविन्द के जीवन के अनेकविध पहलुओं में उनके विचारक और योगी का पहलू सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। उनमें ये दोनों पृथक-पृथक न रहकर एक दूसरे के पूरक रहे हैं।

भारतीय दार्शनिकों की सदा से यह विशेषता रही है कि उनमें तर्कदृष्टि तत्त्वदृष्टि का साधन रही है और उनका जीवन-सिद्धान्त उनके जीवन-मार्ग को आलोकित करता रहा है। यह जीवन-सिद्धान्त भी, उनके जीवन की गहनतम अनुभूतियों और सूक्ष्मतम चिन्तन पर ही आधारित होता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन नीरस, शुष्क एवं तथ्यहीन विचार मात्र या अनुभूतियों का संकलन मात्र न होकर, जीवन के दिव्यतम स्वरूप को उद्घाटित करता हुआ, उसकी ओर प्रशस्त होने का मार्ग व्यक्त करता है। श्री अरविन्द के दर्शन में दिव्य जीवन का अनावरण तो मिलता ही है, उसकी सिद्धि का सर्वश्रेष्ठ पथ भी मिलता है जिसे उन्होंने 'सर्वांगयोग' नाम से अभिहित किया है। यह कि अरविन्द-दर्शन सिद्धान्त मात्र न रहकर व्यवहार योग्य भी है, इस बात से प्रमाणित होता है कि अरविन्द-आश्रम, पांडीचेरी, में अनेक साधकगण इस मार्ग का अनुसरण करते हुए अपने को दिव्यत्व में विकसित अनुभव करते रहे हैं।

श्री अरविन्द अर्वाचीन ही नहीं, समस्त भारतीय दार्शनिकों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सम्भवतः वे प्रथम भारतीय दार्शनिक हैं जिन्होंने एक पूर्ण एवं सर्वांगी दर्शन प्रदान किया है। उन्होंने मात्र एक दार्शनिक विधि या मत या दृष्टि ही नहीं दी और न उन्होंने दर्शन के एक या दो क्षेत्रों को ही स्पर्श किया अपितु उन्होंने एक ऐसा सर्वांग दर्शन दिया है जिसमें दर्शन के प्रायः सभी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक प्रश्नों एवं समस्याओं के समन्वयात्मक समाधान का एक विराट प्रयास हुआ है। चरम तत्त्व के स्वरूप से लेकर सृष्टि की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई, सृष्टि के आदि, मध्य व अंत की स्थिति, जीवात्मा के स्वरूप और सत्ता के स्तर में उसकी स्थिति, उसके बन्धन और मुक्ति, जगत में दुःख का अस्तित्व, ज्ञान के स्रोत और प्रकार, सामाजिक व राजनीतिक संगठन और विकास के नियम आदि अनेकों दार्शनिक प्रश्नों के क्रमबद्ध समाधान का जो प्रयास अरविन्द-दर्शन

में उपलब्ध होता है, वह विश्व-दर्शन-इतिहास में विरला ही है। संभवतः दर्शन की कोई ऐसी प्रमुख शाखा शेष नहीं रही है जिसको श्री अरविन्द ने नहीं लिखा है और जिस किसी भी समस्या को उन्होंने स्पर्श किया है, उसका पूर्ण अन्वेषण करके ही विश्राम लिया है। उनके दर्शन के इस विपुल सागर में पूर्व और पश्चिम के दार्शनिकों के विचार इस तरह सहज एवं स्वाभाविक रूप से घुल-मिलकर आत्मसात हो गये हैं कि उन्हें पृथक देख पाना संभव प्रतीत नहीं होता।

अपने प्रारम्भिक जीवन में पाश्चात्य संस्कृति में पले होने पर भी श्री अरविन्द देह और आत्मा से पूर्णतः भारतीय थे और भारतीय विचारधारा को ही अपने दर्शन का आधार मानकर उन्होंने यत्र-तत्र पाश्चात्य विचारों का समाविष्ट कर अपने दर्शन को पाश्चात्य ज्ञान की पुष्टि दी है। भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों में वे वेदान्त, सांख्य, योग और तंत्र से सर्वाधिक प्रभावित रहे हैं। वैसे बौद्ध तथा अन्य भारतीय दर्शनों का भी उन पर प्रभाव है, पर वह उल्लेखनीय नहीं है। सम्भवतः इसका कारण यह रहा हो कि जिस समय उनका प्रादुर्भाव हुआ, समस्त भारतीय दर्शनों में शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त ही सर्वाधिक विख्यात था। श्री अरविन्द ने शंकर के प्रभाव में रहकर ही अन्य दर्शन सम्प्रदायों का अध्ययन किया प्रतीत होता है, यद्यपि वे स्वयं पूर्णतः शांकर मत को स्वीकार नहीं करते हैं। भारतीय संस्कृति की दो प्रमुख परम्पराओं—ब्राह्मण और श्रमण—में से वे ब्राह्मण परम्परा के ही पोषक हैं। श्रमण-परम्परा के अन्तर्गत बौद्ध एवं जैन दर्शन आते हैं। श्री अरविन्द द्वारा ब्राह्मण परम्परा को ही अपने दर्शन का आधार मानने का सम्भवतः यह कारण रहा हो कि श्रमण-परम्परा में जो कुछ भी ग्राह्य अंश थे वे शंकराचार्य द्वारा पहले ही अपने वेदान्त में समाविष्ट कर लिये गये थे और निवृत्तिपरक उनका आचार-दर्शन उन्हें स्वीकार्य नहीं था। यद्यपि उन्होंने शंकराचार्य के मायावाद और श्रमण-परम्परा के निवृत्ति-मार्ग एवं वैराग्यवाद का खण्डन किया, उनके दर्शन में मायावाद की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति और उनके जीवन में निवृत्ति-मार्ग का प्रभाव मिलता है।

श्री अरविन्द वेद को भारतीय संस्कृति का मूल आधार मानते हैं। अपने ग्रन्थ 'सीक्रेट्स ऑफ दी वेदाज' में वे वेदों के सायण कृत कर्मकाण्डमूलक अर्थ का खण्डन कर वेद के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करते हैं। उनके अनुसार यज्ञ का तात्पर्य कर्मफल-त्याग है। समस्त विश्व एक यज्ञ सदृश है जिसमें चरम तत्त्व अपने ही एक अंश की आहुति से इस विश्व की उत्पत्ति करता है। वेद की मूल भावना गीता में सरल रूप में अभिव्यक्त हुई है अतः वे गीता को वेद का एक भाष्य मानते हैं। वेद में वर्णित यज्ञ, कर्मकाण्ड के अनुष्ठान न होकर, गीता में वर्णित ब्रह्मयज्ञ या निष्काम कर्म ही हैं। इसी तरह वेदोक्त समाज-व्यवस्था गीता द्वारा प्रवर्तित वर्ण-व्यवस्था ही है।

श्री अरविन्द गीता को समन्वय का एक विराट प्रयास मानते हैं। इसमें जहां सांख्य दर्शन को कर्मयोग से समन्वित कर निवृत्ति के मार्ग को अवरुद्ध किया है, वहां उसे वैदिक सत्य और अनुभूतियों से समन्वित कर ऊर्ध्व जगत का सोपान भी बना दिया है। सांख्य तो त्रिगुणात्मक प्रकृति के विश्लेषण तक ही सीमित है और उसका सम्बन्ध त्रिगुणातीत सच्चिदानन्द से स्थापित नहीं करता। गीता त्रिगुणात्मक प्रकृति का, जो चेतना का अधोलोक है, सम्बन्ध चेतना के ऊर्ध्वलोक अर्थात त्रिगुणातीत ब्रह्म से करती है जो वेदांत की विषयवस्तु है। इस तरह सांख्य की वेदान्त में परिसमाप्ति गीता में ही लक्षित होती है।

सांख्य की तरह पातंजल योग का भी गीता वृहदीकरण करती है। पातंजल योग के अनुसार पुरुष और प्रकृति के संयोग से संसार की रचना होती है और प्रकृति के व्यापार से ऊपर उठने पर ही समाधि या कैवल्य पद की प्राप्ति होती है। प्रकृति और पुरुष का विच्छेद ही पातंजल योग-साधना का प्रमुख लक्ष्य है। इसमें यम-नियमादि अष्टांग-प्रक्रिया से विकारों का क्षय और चित्त की चंचलता को नियन्त्रित किया जाता है। श्री अरविन्द के अनुसार गीता का योग राजयोग से अधिक व्यापक और परिष्कृत है। उसका लक्ष्य आत्मा के क्रमिक विकास द्वारा त्रिगुणात्मक प्रकृति से ऊपर उठकर दिव्य चेतना की उपलब्धि करता है। पुनश्च राजयोग में कर्म की आवश्यकता प्रारम्भिक शुद्धिकरण के ही लिए होती है, पर गीता में कर्म की महत्ता कभी समाप्त नहीं होती। इसमें मानवीय चेतना को ही नहीं, दिव्य चेतना को भी सक्रिय माना गया है। परन्तु यह साधारण कर्म न होकर कर्मयोग है, जो निष्काम होता है। गीता का योग उन समस्त आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का समन्वय है जिनके द्वारा दिव्य चेतना के उत्कृष्टतम रूप की सिद्धि होती है। यही कारण है कि श्री अरविन्द गीता को एक पूर्ण जीवन-दर्शन मानते हैं।

श्री अरविन्द ने गीता में विद्यमान वेदांत और तंत्र के समन्वय को स्पष्ट रूप से उभारा है। प्राय: गीता के वेदान्त अंश को ही टीकाकार प्रकाश में लाए हैं और उसमें निहित तंत्र के अंश को उद्घाटित करने का प्रयास नहीं किया है। श्री अरविन्द ने तंत्र के माहात्म्य को पुनर्स्थापित कर उसका वेदान्त के साथ समन्वय किया है। उनके अनुसार तन्त्र और वेदान्त एक-दूसरे के पूरक हैं। वेदान्त में निष्क्रिय ब्रह्म की उपासना है तो तन्त्र में सक्रिय ब्रह्म की। तन्त्र में सक्रिय ब्रह्म को आद्या शक्ति भगवती मां के नाम से पुकारा जाता है और सारे विश्व को इसी शक्ति की अभिव्यक्ति माना गया है। श्री अरविन्द के पूर्ण या सर्वांग योग में चरम तत्त्व के इन दोनों स्वरूपों की उपासना एवं सिद्धि का विधान है।

श्री अरविन्द के दर्शन में चरम तत्त्व त्रिपक्षीय है। ये तीन पक्ष हैं—सत्ता, चेतना और लीला। इसी से इसे सच्चिदानन्द की संज्ञा दी गई है। समस्त व्यक्त

और अव्यक्त चराचर जगत के आधार में एक नित्य, निर्गुण, निराकार, एकरस वस्तु है जिसे सत्ता कहा जा सकता है। वह परात्पर तत्त्व है जिसे कोई जान नहीं सकता, वर्णित नहीं कर सकता है। वह मन और वाणी से अगम, अगोचर और अनुभवातीत है। विश्व की सारी अभिव्यक्ति इसी परात्पर का अंश मात्र है। चरम तत्त्व के इसी पक्ष को उपनिषदों में ब्रह्म या परमब्रह्म कहा गया है। समस्त अद्वैत वेदान्त इसी का निरूपण करता है।

सत्ता अपने मूल रूप में नित्य, अचल और शून्य है, पर इस शून्यता में ही सारी सक्रियता और अनेकत्व निहित है। यह सक्रियता या शक्ति ही चेतना है। सत्ता और चेतना का अभिन्न सम्बन्ध है। सत्ता ही चेतना का आधार और मूल अवस्था है। समस्त विश्व चेतना रूप है। समस्त विविधता और अनेकत्व इसी की विभिन्न अवस्थाएं हैं। प्रत्येक वस्तु एवं व्यक्ति इसी की कृतियां हैं। चेतना का तात्पर्य है क्रियात्मक शक्ति। यही शक्ति क्रमशः जड़, प्राण, मन, अतिमानस, अधिमानस, सम्बोधिमन, ज्योतिर्मय मन, उच्चमन आदि रूपों में उत्तरोत्तरअभिव्यक्त होती है। सत्ता की चेतना के माध्यम से जड़ रूप में अभिव्यक्ति अवरोहण है और जड़त्व का क्रमिक रूप से सत्ता में विलीनीकरण आरोहण है। ये विकास के दो पहलू हैं। विकास की जो प्रक्रिया है, उसे उन्होंने योग कहा है।

एक निष्क्रिय निर्विकार चरम सत्ता की चेतना के माध्यम से इस नानाविध, अभिव्यक्ति का आधार आनन्द या लीला है। श्री अरविन्द ने शंकर द्वारा प्रतिपादित नानात्वमय जगत के मिथ्यात्व का खण्डन कर मायावाद की जगह लीलावाद का समर्थन किया है। उनकी दृष्टि में क्रिया विकार न होकर आनन्द की स्वतः-स्फूर्त अभिव्यक्ति है। सत्ता में चेतना का जो अभिन्न अंश है, वह लीला रूप में जगत को व्यक्त करता है। इसी को वेदान्त में ब्रह्म और शक्ति कहा गया है। शैव दर्शन में इसे शिव और काली कहा गया है। शक्ति दर्शन की तरह अरविन्द शिव को शक्ति से नियन्त्रित नहीं मानते और न वे शिव को अन्य तान्त्रिकों की तरह चिर-समाधिस्थ निष्क्रिय तत्त्व मानते हैं। शक्ति शिव में अन्तर्भूत इच्छा-रूप है। समस्त विश्व इसी शक्ति या इच्छा की लीला है जिसका प्रवाह जड़ या अचेतन तत्त्व से लेकर अतिमानस चेतना के स्तर तक व्याप्त है। शक्ति का यह प्रवाह सरिता के सदृश अनन्त है, इसका न तो कोई ओर है और न छोर। यह शक्ति अपने विगत को समेटती हुई नित्य ही नूतन अभिव्यक्तियों को लेकर भविष्य की ओर बढ़ रही है। शक्ति की इस नित्य सृजनशीलता में निरन्तर सौन्दर्य, सौम्यता एवं भव्यता की अभिवृद्धि होती रहती है। शक्ति का आनन्द इसी में है, यही उसकी लीला है, आदर्श एवं उद्देश्य है।

विश्व की एकमात्र शक्ति यही दिव्य शक्ति है, अन्य समस्त शक्तियां इसी के सीमित और सूक्ष्म रूप हैं। यही शक्ति अभिव्यंजना के मध्य नाना स्वरूप धारण

करती है। विभिन्नता में ही इसका प्रकाशन संभव है। यही शक्ति तमस्-रूप से अचेतन भौतिक क्षेत्र में, रजस्-रूप से सचेतन मानसिक क्षेत्र में और सत्वरूप से अतिमानस क्षेत्र में अभिव्यक्त होती है। यही सत्वरूप 'दिव्यजीवन' के प्रादुर्भाव के लिए सतत प्रयत्नशील है।

विश्व की समस्त घटनाएं एवं पदार्थ इसी शक्ति की लीला होने से कोई भी घटना या पदार्थ निरर्थक या मूल्यहीन नहीं है। जीवन का कोई भी क्षण निरुद्देश्य या अनुपयोगी नहीं है क्योंकि जीवन का प्रत्येक स्पन्दन ईश्वरीय आनन्द की ही ऊर्मि है। पूर्णता सदैव आनन्द में ही अभिव्यक्त होती है—यत्र वै भूमौ तत्र सुखम्। भारतीय मनीषियों ने चरम सत्ता को आनन्दमय कहकर ही सम्बोधित किया है। वस्तुतः आनन्द ही विश्व का आदि और अन्त है, कारण एवं कार्य है, मूल एवं फूल है। आनन्द में ही उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय है।

आनन्द पूर्णता और सृजन दोनों में निहित है। श्री अरविन्द के अनुसार पूर्णता और सृजनशीलता में कोई विरोध नहीं है। 'दिव्य-जीवन' सदा से पूर्ण और सृजनशील है। उनका मन्तव्य है कि पूर्ण जीवन को सृजनशीलता से परे मानकर स्थिरता, जड़ता या निर्वाण की शांति के सदृश मानना उसके स्वरूप को भ्रांत रूप से देखना है। यह जीवन एक सततप्रवाही झरने के समान है जो कि सदैव पूर्ग है तथापि आगे बढ़ता ही जाता है। मृत्यु जीवन का अंत नहीं वरन नवजीवन का सन्देशवाहक है। दुःख जीवन का अन्तिम सत्य नहीं है। दुःख का मूल जीवन के विभिन्न क्षणों को विच्छिन्न एवं विभक्त मानकर, उन्हें ही सम्पूर्ण मान लेने में है। इसका उपचार जीवन के त्याग या आतम-विनाश में नहीं वरन 'दिव्यत्व' की अधिकाधिक प्राप्ति एवं उत्तरोत्तर वृद्धि में है।

श्री अरविन्द जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक पक्षों में विरोध नहीं मानते। उनके अनुसार जीवन का सारा प्रवाह आध्यात्मिक है। भौतिक भी अपने मूल में आध्यात्मिक ही है। यथार्थ में भौतिकता जीवन की समग्रता को विभक्त करना है, जीवन के प्रवाह को अवरुद्ध करना है। यह जीवन की अपूर्ण अभिव्यक्ति है। जिस तरह बांध द्वारा जल-प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार भौतिकता जीवन-प्रवाह का अवरुद्ध होना है। हमारे जीवन का लक्ष्य इन्हीं अवरोधों को दूर करना है, आध्यात्मिक द्वारा भौतिक का रूपान्तर करना है। जड़त्व में चैतन्य की खोज, जड़त्व का रूपान्तर, जगत का दिव्यीकरण अरविन्द-दर्शन की प्रमुख देन हैं। वैसे यह विचार सूक्ष्म रूप से सांख्य दर्शन में निहित है जबकि सांख्य कारिका के रचयिता श्री ईश्वर कृष्ण यह घोषित करते हैं कि—

> "न बध्यते मुच्यते पुरुषो वा कदाचित्।
> बध्यते मुच्यते च नानागुणाश्रया प्रकृतिः।।"

परन्तु इस कारिका के अर्थ की सही अभिव्यक्ति का श्रेयश्री अरविन्द को ही

जाता है। परन्तु श्री अरविन्द का समन्वयवादी दर्शन सांख्य दर्शन से भी आगे इस बात में बनता है कि इसमें भौतिक को आध्यात्मिक का विरोधी या प्रतिकूल न मानते हुए भौतिकता को आध्यात्मिकता की प्राप्ति का एक सोपान माना गया है।

श्री अरविन्द के अनुसार विश्व की प्रक्रिया दिशाहीन नहीं है। इसका लक्ष्य उस दिव्य जीवन की सिद्धि है जिसमें जड़ का आध्यात्मिक में रूपान्तर और जगत का दिव्यीकरण होता है। विकास की इस प्रक्रिया में निम्न स्तर का उच्च स्तर द्वारा निषेध नहीं होता वरन परिष्कार होता है। जड़ का यह परिष्कार तब ही सम्भव हो सकता है जब चैतन्य या आध्यात्मिक का जड़ में अवतरण हो। विकास के प्रत्येक सोपान पर एक स्तर से दूसरे स्तर पर पहुंचने के लिए श्री अरविन्द 'दिव्य शक्ति' की मध्यस्थता को स्वीकार करते हैं। विकास में अवतारवाद का यह समन्वय श्री अरविन्द की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन है। उनके अनुसार विकास की प्रक्रिया द्विविध है, एक तो ऊर्ध्वमुखी जिसमें जड़त्व से अतिमानस एवं सच्चिदानन्द की सिद्धि होती है और दूसरी अधोमुखी जिसमें सच्चिदानन्द जड़त्व के रूप में अपने को अभिव्यक्त करता है। जब तक अधोमुखी प्रक्रिया नहीं होती ऊर्ध्वमुखी प्रक्रिया सम्भव नहीं। इस तरह उनके अनुसार विकास है सच्चिदानन्द द्वारा स्व-रूप की पुनर्प्राप्ति।

श्री अरविन्द के सर्वांगयोग की साधना का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'अतिमानस के अवतरण' का है। अतिमानस व्यक्ति तथा ईश्वर या मन और सच्चिदानन्द के बीच की कड़ी है। यह मानव में ऐसी चेतना का अवतरण है जो त्रिगुणातीत होने के साथ-साथ अपने मूल रूप में सच्चिदानन्द की ही अभिव्यक्ति है। अतिमानसीकरण की आवश्यक पूर्व दशाएं जड़ का चैत्यीकरण और आध्यात्मीकरण है। चैत्यीकरण, स्व-स्थित चैतन्य को जागृत करना तथा त्रिगुणात्मक रूप की सम्प्रभुता का त्याग कर त्रिगुणातीत होना है। आध्यात्मीकरण, आत्मिक उपलब्धि है जो विश्व के साथ ऐक्य या तादात्म्य में निहित है।

श्री अरविन्द के योग की एक मुख्य विशेषता व्यष्टि और समष्टि का, वैयक्तिक सिद्धि और जागतिक सिद्धि का समन्वय है। परम्परागत योग-प्रणाली द्वारा व्यक्ति अपने स्वयं के प्रयास से सच्चिदानन्द रूप की प्राप्ति कर सकता है परन्तु समूचे जगत की सच्चिदानन्द रूप की प्राप्ति का कोई विधान नहीं है। उन्होंने इसीलिए इस योग-प्रणाली में आमूल परिवर्तन कर दिया। यह परिवर्तन इस योग-प्रक्रिया में अवरोहण या अवतरण की विधि को जोड़ना है। परम्परागत योग में मात्र आरोहण ही सम्भव था और सिद्ध अपनी अनुभूतियों को जागतिक चेतना में उतार नहीं सकता था। श्री अरविन्द ने यह दावा किया है कि उनका परिमार्जित योग अवरोहण की क्रिया द्वारा उच्चतर लोकों के सत्य को निम्नतर लोकों में

उतार कर प्रतिष्ठापित कर सकता है। अपनी साधना के अधिकतम समय को उन्होंने इस क्रिया की सिद्धि, प्रयोग व पुष्टि में लगाया और 'उच्चमन' 'ज्योतिर्मय मन', 'सम्बोधि मन', 'अधिमानस' तथा 'अतिमानस' को क्रमशः अपनी जागृत चेतना में उतारने का दावा किया। उन्होंने तथा श्री मां ने अपने को विश्व के दिव्यीकरण के लिए ऐसा माध्यम बनने के लिए उत्सर्ग किया और यह घोषणा भी की थी कि उन्हें इस भगवत्-निर्दिष्ट कार्य में सफलता मिली है। उन्होंने कालान्तर में विश्व के दिव्यीकृत होने की भविष्यवाणी की है। समय ही उनके इस दावे की पुष्टि कर सकेगा। परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से जगत के दिव्यीकरण का उनका सिद्धान्त श्लाघनीय है, भले ही वह कार्यान्वित हो या न हो।

३. श्री अरविन्द का वेद-दर्शन

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने 'वेद' पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं— वेद में अति प्राचीन काल के गड़रियों के विस्मय व आशंका से भरे गीतों के अतिरिक्त और क्या रखा है ? वेद केवल पुरुष रूप में कल्पित प्राकृतिक घटनाओं के प्रति की गयी भद्दी पूजा है। अथवा, इसमें कर्मकाण्ड में बोले जाने वाले अर्ध-धार्मिक, अर्ध जादू भरे स्तोत्र हैं जिनको पढ़कर आदिकाल के अन्ध श्रद्धालु पशुप्राय मानव आशा करते थे कि सुवर्ण, अन्न और पशु मिलेंगे, कि वे अपने शत्रुओं का निर्दयतापूर्वक नाश कर सकेंगे, कि वे रोगों, अनर्थों एवं राक्षसी प्रभावों से बच सकेंगे और इस प्रकार ऐहलौकिक स्वर्ग के स्थूल आनन्द को भोग सकेंगे। 'रिलिजन दास वेद' में ओल्डनवर्ग लिखता है—"यद्यपि ऋग्वेद भारतीय साहित्य और धर्म की प्राचीनतम कृति है तथापि बौद्धिक ह्रास के स्पष्ट चिह्न उसमें उत्तरोत्तर बढ़ते ही नजर आते हैं।···इन जंगली पुरोहितों के देवता भी जंगली ही थे, जिनका काम, जब चाहा, घोड़ों और रथों पर आसमान चीरते हुए थोड़ी-सी पुरोडाश, थोड़ा-सा मक्खन, एक मांस का टुकड़ा और एक प्याली सोम के लिए— दौड़ते चले आने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता था।" पुनः अन्यत्र वह लिखता है : "सामान्यतया वैदिक कविता में सौन्दर्य की उद्भावना दृष्टिगोचर नहीं होती और न वैदिक धर्म में आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए कोई दैवी स्तुति ही है, ऐसा लगता है जैसे वैदिक कविता और वैदिक धर्म का उद्देश्य वर्गाभ्युदय, स्वर्गाभ्युदय और धनिकाभ्युदय के अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं।"

इसके विपरीत कुछ यूरोपीय विद्वानों ने वैदिक सूक्तों की प्रशंसा भी की है। 'केगी' कहता है—"वह कविता जिसमें कि हम पाश्चात्यों के आध्यात्मिक विकास का पूर्वतम रूप, अपने श्रेष्ठ स्वर में, हमारे सम्मुख वरवस खुल आता है—उसी के लिए ही इन गीतों में कितना आकर्षण भरा पड़ा है, कितनी मात्रा में अद्भुत, अबोध शैशव बिखरा पड़ा है, अनुभूति की वह प्रथम स्रोतस्विता, रूपकों, वक्रोक्तियों की वह निर्भीक वृत्ति, कल्पना की वह उड़ान···।" तथापि तभी पाश्चात्य विद्वानों की वेदव्याख्या का आधारभूत सिद्धान्त वह 'विकासवाद' है जो मानता है कि मनुष्य का विकास बिलकुल हाल की जंगली अवस्था से हुआ है। ये सभी विद्वान

वेद को मात्र गाथाशास्त्र और कर्मकाण्डपरक स्तोत्रों की पुस्तक मानते हैं तथा वेद के आध्यात्मिक तथा नैतिक महत्त्व की उपेक्षा करते हैं।

श्री अरविन्द ने ठीक ही कहा है कि यह भ्रान्ति आचार्य सायण के वेद-भाष्य से उत्पन्न हुई है। उसके अनुसार वैदिक शिक्षा का उपयोग ऐसे आचार-सम्बन्धी धर्माचरण में नहीं है, जिसके नैतिक तथा आध्यात्मिक परिणाम होते हैं किन्तु याज्ञिक क्रियाकलाप के यान्त्रिक तौर पर किए जाने में है जिसके भौतिक फल मिलते हैं। इसी कर्मकाण्ड के सांचे के अन्दर वह वेद की भाषा को ठोक-पीटकर ढालता है। अतः यद्यपि कुछ यूरोपीय विद्वानों ने 'लास वोन सायन' (सायण का वहिष्कार करो) का नारा भले ही लगाया हो तथा भले ही वे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (कम्पेरेटिव फिलालोजी) तुलनात्मक गाथाशास्त्र (कम्पेरेटिव माइथा-लोजी) आदि आधुनिक वैज्ञानिक विद्याओं की दुहाई देते थकते न हों तथापि तत्त्वतः वे सायण के प्रभाव से अस्पृष्ट न रह सके। यहां तक कि जर्मन विद्वान पिशेल और गैल्डनगर ने 'वेदिशे स्तूदियन' के तीनों भागों में सायण का खुलकर उपयोग किया। जो कुछ भी हो, अव हमें वेद के विषय में किसी एक विचार का चुनाव कर लेना होगा। या तो सायण के अनुसार हमें वेद को ऐसे गाथाशास्त्र और कर्मकाण्ड के प्राचीन लेखों के रूप में मानना होगा या पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार वेद को अर्ध-असभ्य जाति की पूजा के पुरातन अभिलेख मानकर भूतकाल के अवशेषों में रख देना होगा या फिर वेद को दिव्यज्ञान की पुस्तक मानना होगा। यदि वह सचमुच दिव्यज्ञान है तव वह हमारे लिए सर्वोपरि महत्त्व की वस्तु भी है।

वेद-रहस्य को प्रकाशित करने वाली एक किरण, स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में उदित हुई। स्वामी जी ने आचार्य यास्क के निरुक्त तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन तथा वेद की अन्तःसाक्षी से इस रहस्य को जान लिया कि वैदिक शब्द यौगिक तथा योगरूढ़ हैं, रूढ़ नहीं। वेद की ऋचाओं में इन्द्र, अग्नि आदि द्वारा एक ही परम देवता परमात्मा के गीत गाए जाते हैं। ये अनेक नाम इसी अभिप्राय और उद्देश्य से सोच-विचार कर प्रयुक्त किए गए हैं कि उस एक देव के भिन्न-भिन्न गुणों तथा शक्तियों का वर्णन करें। स्वामी दयानन्द अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए वेद की अन्तःसाक्षी प्रस्तुत करते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः—
अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋ० १।१६४।४६)

—"इन्द्र, मित्र, वरुण, मरुत्मान् वही कहाता है। एक ही सत् को विप्र लोग अनेक प्रकार से वोलते हैं, अग्नि नाम से वोलते हैं, यम कहते हैं, मातरिश्वा पुकारते हैं।"

यहां आधुनिक विद्वान तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की टांग अड़ा देते हैं। वे कहते हैं कि यह ऊपर उद्धृत वेदमंत्र बाद की रचना है। अग्निपूजक, सूर्यपूजक, आकाश-पूजक इन अज्ञानी आर्यों के मन में यह ऊंचा विचार स्वयं नहीं उठा किन्तु उन्होंने इसे सुसभ्य तथा दार्शनिक वृत्ति वाले द्रविड़ शत्रुओं से लेकर पीछे से अपना लिया। वस्तुतः तो वेद में एक विशेष प्रकार का बहुदेवतावाद (हैनोथीज्म) है। वैदिक ऋषि इन्द्र आदि किसी भी देवता को वास्तव में एक परम देवता नहीं मानते थे अपितु प्रत्येक देवता के साथ एक परम देवता जैसा तात्कालिक व्यवहार करते थे, क्योंकि वे लोग समझते थे कि इस प्रकार से वह देव अपनी इतनी अतिशयोक्तिपूर्ण स्तुति को सुनकर अधिक दया करेगा।

स्वामी दयानन्द के मत का पूर्ण समर्थन करते हुए श्री अरविन्द बड़े जोरदार शब्दों में तथा युक्तियुक्त ढंग से प्रतिपादित करते हैं कि तुलनात्मक भाषाशास्त्र, तुलनात्मक गाथाशास्त्र तथा तुलनात्मक धर्मशास्त्र अभी बाल-अवस्था में ही हैं तथा इनके तरीके अटकल करने वाले तथा परिणाम बदलने वाले हैं। वे लिखते हैं—"कल हम सब को यह विश्वास था कि वैदिक वरुण और अवेस्तन औरेनस एक ही हैं, आज यह समानता यह कहकर दोषयुक्त ठहरा दी गयी है कि इसमें भाषा-विज्ञान सम्बन्धी गलती है, कल यह हो सकता है कि इसे फिर से मान लिया जाए। 'परमे व्योमन्' एक वैदिक मुहावरा है, जिसका कि हम में से अधिकांश 'उच्चतम आकाश' में यह अनुवाद करेंगे, परन्तु श्रीयुत टी० परमशिव अय्यर अपने बौद्धिक चमक-दमक से युक्त और आश्चर्यजनक ग्रन्थ 'दी ऋक्स' में हमें बताते हैं कि इसका अर्थ है 'निम्नतम गुहा में' क्योंकि 'व्योमन्' का अर्थ होता है 'विच्छेद, दरार' और शाब्दिक अर्थ है, 'रक्षा (ऊमा) का अभाव' और जिस युक्ति प्रणाली का उन्होंने प्रयोग किया है, वह आधुनिक विद्वान की प्रणाली के ऐसी अनुरूप है कि, भाषाविज्ञानी इसे यह कहकर अमान्य नहीं कर सकता कि 'रक्षा के अभाव' का अर्थ दरार होना संभव नहीं है और यह कि मानवीय भाषा का निर्माण ऐसे नियमों के अनुसार नहीं हुआ है। वे आगे लिखते हैं—"लेकिन तब हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि हमें इस बात के निर्णय में सहायता देने के लिए कुछ नहीं है कि वेद का 'परमे व्योमन्' 'उच्चतम आकाश' की ओर निर्देश करता है या 'निम्नतम खाई' की ओर। यह स्पष्ट है कि ऐसा अपूर्ण भाषा-विज्ञान वेद का आशय समझने के लिए कहीं-कहीं एक उज्ज्वल सहायता तो हो सकता है, परन्तु एक निश्चित पथ-प्रदर्शक कभी नहीं हो सकता।"

इसी प्रकार 'धातुओं की अनेकार्थकता' के सिद्धान्त के आधार पर भारतीय मनीषियों द्वारा किए गए वेदमन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थों पर आक्षेप करने वाले पाश्चात्य विद्वानों को उत्तर देते हुए श्री अरविन्द कहते हैं—"उस भूल का कारण यह है कि हम इस प्राचीन भाषा के अनुशीलन में भी भाषा सम्बन्धी आधुनिक

विचारों को गाने लगते हैं। हम आधुनिक लोग शब्दों का प्रचलित सिक्के की तरह उपयोग करते हैं जिसमें कि उनके मूलभूत अर्थ का कोई मूल्यांकन या स्मरण नहीं किया जाता। जब हम बोलते हैं तो हमारे ध्यान में कथित पदार्थ रहता है, उसका व्यंजक शब्द बिलकुल नहीं रहता, शब्द तो हमारे लिए एक निर्जीव और अधम वस्तु है। इसके विपरीत प्राचीन भाषा में शब्द अपनी अर्थ-द्योतन की तात्त्विक शक्तियों के साथ एक जीती-जागती चीज था।" वे आगे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं—"उसके मूलभूत (धात्वीय) अर्थ याद रखे जाते थे। हमारे शब्द सावधानतापूर्वक एक या दो अर्थों के लिए सीमित रहते हैं, पर उनके शब्द बहुत से अर्थों को देने के लिए समर्थ होते थे और उनके लिए यह बिलकुल आसान था कि वे अग्नि, वरुण या वायु जैसे किसी एक शब्द को बहुत से सम्बद्ध तथा पेचीदे विचारों के लिए एक ध्वनि-तालिका के रूप में उपयोग करें, उसे एक कुंजी का काम देने वाले शब्द की तरह बरतें।...वे ऐसे शब्दों को, जैसे 'गो' या 'चन्द्र', कैसे बरतते हैं यह ध्यान देने योग्य है। वैदिक शब्दों की इस विशेष क्षमता के बारे में निरुक्त भी साक्षी देता है तथा ब्राह्मणों और उपनिषदों में हम शब्दों के इस स्वतन्त्र और प्रतीकात्मक उपयोग की यादगार अभी तक विद्यमान पाते हैं।"

श्री अरविन्द ने इस बात पर बल दिया कि हम पहले वेद की अन्तःसाक्षी के आधार पर वैदिक धर्म के केन्द्रीय विचार-सूत्र को पकड़ें। उनकी दृष्टि में यह सूत्र यही है कि वेद मुख्यतया आध्यात्मिक प्रकाश और आत्मसाधना के लिए अभिप्रेत हैं। यद्यपि वेद द्विविध रूप रखता है, तथा वैदिक देवता एक साथ विराट् प्रकृति की आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनों शक्तियों के रूप में प्रकट हो जाते हैं, परन्तु भौतिक अर्थ की अपेक्षा आध्यात्मिक अर्थ प्रधान है और अधिक संगत है।

स्वामी दयानन्द के स्वर में स्वर मिलाकर श्री अरविन्द ने कहा कि वेद में भिन्न-भिन्न देवता अनेक नामों और रूपों से उस एक परम देव की ही अनेकरूपता को प्रकट करते हैं। उनका विचार है कि न केवल तथाकथित वाद के अंशों में प्रत्युत सारे ही वेद में हमें इस विचार की पुष्टि करने वाले मंत्र और वचन मिलते हैं। अग्नि या इन्द्र या अन्य देवता, स्पष्टतया इस प्रकार वर्णित किए गए हैं कि ये अन्य सब देवों के साथ एक हैं। अग्नि अपने अन्दर अन्य सब देवों की शक्तियां रखता है, मरुत् सब देवतामय वर्णन किए गए हैं, एक देवता जहां अपने नाम द्वारा वहां अन्य देवताओं द्वारा भी संबोधित किया गया है या जैसा कि प्रायः देखा जाता है, एक-एक देवता को जगत् का पति या विश्व का राजा मानकर ऐसे विशेषण दिए गए हैं जो कि परम एक देव को ही दिए जा सकते हैं। इस प्रकार श्री अरविन्द की दृष्टि में वेद का एक देवतावाद विश्व की अद्वैतवादी, सर्वदेवतावादी और यहां तक कि बहुदेवतावादी दृष्टियों को भी अपने अन्दर सम्मिलित कर लेता है और यह किसी भी प्रकार से आधुनिक ईश्वरवाद का कटा-छंटा और सीधा-सा रूप नहीं है।

श्री अरविन्द की दृष्टि में वेद का अर्थ रहस्यात्मक तथा निगूढ़ है। वैदिक ऋषियों का विचार था कि ऐसा आत्मज्ञान व सत्यज्ञान साधारण मानव मन को दिए जाने के अयोग्य ही नहीं, खतरनाक भी था। अतः वेद में वे रहस्यमय वचन, 'निण्या वचांसि' (ऋ० ४।३।१६) हैं, जो कि आत्मा में पवित्र और ज्ञान में जागे हुए पुरुषों के लिए कहे गए थे। इस प्रकार वेद का अभिप्राय योग तथा तपस्या द्वारा पवित्र हृदय में ही स्फुरित होता है। क्योंकि वैदिक रहस्यवादियों का सिद्धांत ऐसी अनुभूतियों पर आश्रित था जो अनुभूतियां साधारण मनुष्यों के लिए बड़ी कठिन होती हैं। श्री अरविन्द लिखते हैं कि भारतीय योग की विधि के अनुसार आत्मविकास की किन्हीं दिशाओं में अभ्यास करते हुए उन्होंने पाया कि वेद के मन्त्र एक स्पष्ट और ठीक प्रकाश के साथ उनकी अपनी ही आध्यात्मिक अनुभूतियों को प्रकाशित करते हैं, जिनके लिए न तो योरोपियन अध्यात्म-विज्ञान में, न ही योग की या वेदांत की शिक्षाओं में, कोई पर्याप्त स्पष्टीकरण मिलता था।

इस प्रकार श्री अरविन्द की सम्मति में वेद में प्रयुक्त शब्द, यज्ञ के विविध अंग तथा विभिन्न कथानक किसी न किसी आध्यात्मिक तत्त्व के प्रतीक हैं। उदाहरणार्थ वह अग्नि जो कर्म या यज्ञ का द्रष्टा (कविक्रतुः) है, जो सत्य (सत्ता में सत्य) है, जो ऋत (व्यापार का सत्य) का रक्षक (गोपा अमृतस्य) है तथा जो सब जन्मों को जानने वाला है (जातवेदस्-वायुनानि विद्वान्) है वह मात्र यज्ञीय अग्नि ही नहीं हो सकती अपितु वह दिव्य संकल्प है जो पूर्ण रूप से दिव्य बुद्धि के द्वारा प्रेरित होता है, वह वह शक्ति है जिससे सत्य चेतना क्रिया करती है।

श्री अरविन्द के गम्भीर विवेचन के अनुसार वेद के 'यज्ञ' का अर्थ है कि मनुष्य के पास अपनी सत्ता में जो कुछ है उसे वह उच्चतर या दिव्य स्वभाव को अर्पित कर दे, और इस यज्ञ का फल यह होता है कि उसका मनुष्यत्व देवों के मुक्तहस्त दान के द्वारा और अधिक समृद्ध हो जाता है। इस प्रकार यज्ञ करने से जो समृद्धि प्राप्त होती है, वह है—आध्यात्मिक ऐश्वर्य, सत्ता का अमृत रूप आनन्द (सोम)। इसी प्रकार वैदिक प्रतीकवाद के एक दूसरे अत्यावश्यक अंग लोकों के संस्थान के विषय में भी श्री अरविन्द ने पर्याप्त ऊहापोह के बाद यही पाया कि भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् ये सात लोक सात आध्यात्मिक तत्त्वों या सत्ता के सात रूपों—सत्, चित्, आनन्द, विज्ञान, मनस्, प्राण और अन्न—को सूचित करते हैं।

इसी प्रकार देवों के विषय में यह वर्णन कि वे प्रकाश से उत्पन्न हुए, 'अदिति', अर्थात् अनन्तता के पुत्र हैं, वे मनुष्य की उन्नति करते हैं, उसे प्रकाश देते हैं, सब आक्रमणों से बचाकर उसे महान लक्ष्य तक, अखण्ड समृद्धि तक, पूर्ण सुख तक

पहुंचाते हैं। दूसरी ओर दैत्य जो कि उनके विरोधी हैं, सीमा में आवद्ध शक्तियां हैं, वे आच्छादक हैं, विदारक हैं, हड़प लेने वाले हैं, प्रतिबन्धक हैं, वे ऐसी शक्तियां हैं जो कि जीवन की स्वतन्त्र तथा एकीभूत सम्पूर्णता के विरुद्ध कार्य करती हैं। ये वृत्र, पणि, अत्रि, राक्षस, शम्बर, बल, नमुचि आदि कोई द्रविड़ राजा और देवता नहीं हैं प्रत्युत अधिक प्राचीन भाव के द्योतक हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि श्री अरविन्द ने भाषा-वैज्ञानिकों की द्रविड़-भाषा-परिवार की कल्पना को भी निर्मूल सिद्ध किया है। वे लिखते हैं कि "मैंने यह पाया कि वे शब्द या शब्द-परिवार जो कि विशुद्ध रूप से तामिल ही समझे जाते थे, संस्कृत तथा इसकी दूरवर्ती वहिन लैटिन के बीच और कभी-कभी ग्रीक तथा संस्कृत के बीच नये सम्बन्धों की स्थापना करने में मेरा पथ प्रदर्शन करते थे।"

श्री अरविन्द ने 'वेद रहस्य' में अनेक गाथाओं की आध्यात्मिक अर्थ में संगति बैठाई है। उनका विचार है कि अंगिरसों का कथानक तथा वृत्त की गाथा ये दो वेद के आधारभूत रूपक हैं और इन्हीं के चारों ओर अवशिष्ट सारा वैदिक प्रतीक-वाद वाने की तरह ओतप्रोत हुआ है, लेकिन इसमें द्रविड़ भारत पर प्रकृतिपूजक जंगलियों द्वारा किए गए आक्रमण का कवितामय वर्णन व कथात्मक उपाख्यान नहीं वरन प्रकाश और अन्धकार, सत्य और अनृत, ज्ञान और अज्ञान, मृत्यु और अमरता की आध्यात्मिक शक्तियों के मध्य होने वाले संघर्ष का प्रतीकात्मक वर्णन है।

श्री अरविन्द अपने समस्त वेदानुशीलन के निचोड़ को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि, "वेद का केन्द्रीभूत विचार है—अज्ञान के अन्धकार में से सत्य की विजय करना तथा सत्य की विजय द्वारा साथ में अमरता की भी विजय कर लेना। क्योंकि वैदिक 'ऋतम्' एक साथ ही मनोवैज्ञानिक विचार भी है, आध्यात्मिक विचार भी। यह 'ऋतम्' अस्तित्व का सत्य सत्, सत्य चित् और सत्य आनन्द है जो इस शरीर रूप पृथिवी, इस प्राणशक्ति रूप अन्तरिक्ष, इस मनरूप सामान्य आकाश या द्यौ से परे है। हमें इन सव स्तरों को पार करके आगे जाना है ताकि हम उस परायेतन सत्य के उच्च स्तर में पहुंच सकें जो देवों का स्वकीय घर है और अमरत्व का मूल है। यही 'स्वः' का लोक है···।"

श्री अरविन्द के अनुसार वेद के रहस्यवादी ऋषियों ने अनधिकारियों से वेद की रक्षा के निमित्त इसके स्वरूप को जानबूझ कर गुह्य वनाया था। भाषा की अपनी विशेष प्रकृति के कारण इन रहस्यवादियों को सर्वत्र श्लेषमय वर्णनों द्वारा सामान्य लौकिक वस्तुओं की आड़ में गूढ़ आध्यात्मिक रहस्य प्रकट करने की सुविधा प्राप्त थी। किन्तु इस प्रकार वेद का वास्तविक अभिप्राय कालान्तर में लुप्त हो गया। और, स्कन्दस्वामी, सायण, उव्वट, महीधर आदि भाष्यकारों के काल से ही नहीं अपितु उससे भी सहस्राब्दियों पूर्व से ही दुर्बोध हो चुका था। ब्राह्मण-

ग्रन्थों ने न केवल वेद के एक (अपेक्षया) स्थूल पक्ष—कर्मकाण्ड—की परम्परा को ही पकड़ा प्रत्युत वैदिकतः ऋषियों के सम्भवतः अनभीष्ट लौकिक आख्यानों की भी कल्पना की। दूसरी ओर उपनिषदों के रचयिता मननशील ऋषियों ने वेद को अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के प्रकाश में देखा और उसे अपनी ही भाषा में प्रस्तुत किया। उपनिषद् ग्रन्थ ब्राह्मणों में प्रतिपादित धर्म के विरोध में नहीं हैं अपितु उसके समानान्तर ही समान मूलस्रोत वेद के ही दूसरे पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु वेद की बहुत-सी परिभाषाएं इन उपनिषत्कारों के लिए भी अगम्य रहीं। बाद में भाष्यकारों के समय तक वेद को कर्मकाण्ड व गाथाशास्त्र के ग्रन्थ के ही रूप में लिया जाने लगा किन्तु परम्परावश वेद ईश्वरीय ज्ञान और नित्य भी माना जाता रहा।

पहले हम कह चुके हैं कि स्वामी दयानन्द ने अनुभव किया था कि सायण आदि भाष्यकारों द्वारा प्रतिपादित स्वरूप में वेद ईश्वरीय ज्ञान नहीं हो सकता। उस से तो वेद में सर्वत्र असंगतियां तथा अन्तर्विरोध ही प्रतीत होते हैं। स्वामीजी ने यास्कीय निरुक्त इत्यादि के गम्भीर अध्ययन और अपने अनुपम विवेक से वैदिक भाषा की कुंजी—वैदिक शब्दों का यौगिक और योगरूढ़ अर्थों में प्रयोग—को खोज निकाला था और वैदिक भाषा की इस कुंजी से उन्होंने पाया था कि वेद सचमुच ईश्वरीय ज्ञान है। इसमें किसी प्रकार का लौकिक इतिहास नहीं है। वैदिक मन्त्रों के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ होते हैं। आधिभौतिक रूप में भी वेद में इस भौतिक जगत से सम्बद्ध विज्ञान का ही प्रकाश होता है, न कि लौकिक कथानकों का। ज्ञान-कर्म-उपासना तीनों ही विषय वेद के प्रतिपाद्य हैं और तीनों का समन्वय मानव जीवन में अपेक्षित है। वेद में एक ही परमेश्वर का विभिन्न नामों से वर्णन है न कि बहुत से पृथक् देवताओं की पूजा का विधान। श्री अरविन्द ने स्वामी दयानन्द से वेद-भाषा-सम्बन्धी उक्त रहस्य को कृतज्ञतापूर्वक प्राप्त किया तथा स्वयं अनुभूत किया। उन्होंने भी माना कि वेद में लौकिक इतिहास नहीं है और न ही वैदिक धर्म बहुदेवतावादी अथवा सर्वेश्वरवादी है। वेद में निश्चित रूप से एक ही परमदेव की विभिन्न शक्तियों और रूपों का विभिन्न नामों द्वारा वर्णन हुआ है। इस प्रकार वैदिक धर्म और वैदिक दर्शन के सम्बन्ध में श्री अरविन्द के निष्कर्ष प्रायः स्वामी दयानन्द के अनुरूप ही हैं। किन्तु इन दोनों महापुरुषों के वेद-सम्बन्धी अनुशीलन में एक भारी मौलिक अन्तर भी है। जहां स्वामी दयानन्द ने वेद को सब सत्यविद्याओं की पुस्तक सिद्ध करने की चाह से अपने वेद-भाष्य में वर्तमान विज्ञान की उपलब्धियों—रेल, वायुयान आदि भौतिक वस्तुओं के वेद में वर्णन के अस्तित्व पर अधिक बल दिया, वहां श्री अरविन्द ने यह बात बहुत ही तीव्रता के साथ अनुभव की कि भले ही वेद में इस सब भौतिक विज्ञान का भी वर्णन हो, और भले ही वेद में सायण द्वारा

निर्दिष्ट कर्मकाण्ड का भी वर्णन हो किन्तु वेद का वास्तविक प्रतिपाद्य और महत्त्व तो उसके आध्यात्मिक रहस्यों के प्रकाशन में ही है। इसी में वेद के ज्ञान का दिव्यत्व है। अतः श्री अरविन्द ने वेद के इसी पक्ष को प्रकाशित किया और इसमें उनकी अपनी गम्भीर आध्यात्मिक साधना अत्यन्त सहायक हुई।

४. श्री अरविन्द की समाज-कल्पना

श्री अरविन्द ब्रह्म की शक्ति, भागवती शक्ति, से विश्व की सभी घटनाओं का नियोजन देखते और मानते थे। वे मानव-जीवन की सफलता इसमें मानते थे कि ईश्वरीय योजना को पहचानकर, उसके अन्तर्गत खिलाड़ी मात्र बनकर, आध्यात्मिक भाव से, पूजा-भाव से कार्य किया जाए। वे धर्म अर्थात् सनातन धर्म के साक्षात्कारी ऋषि थे, उपदेशक थे। 'धर्म और जातीयता' में व्यक्त उनके विचारों के अनुसार 'व्यक्तिगत धर्म, जातिगत धर्म, वर्णाश्रित धर्म और युगधर्म का मानना सनातन धर्म का उचित रूप से पालन करने के लिए सदैव रक्षणीय है। किन्तु इस तरह के अनेक धर्मों में क्षुद्र और महान दो रूप हैं। क्षुद्र धर्म को महान धर्म में मिलाकर और संशोधन करके कर्मारम्भ करना श्रेयस्कर है।" उन्हें समाज को आर्य-चरित्र में ढालने की तीव्र इच्छा थी—"हम भारतवासी, आर्यों के वंशज हैं। हम लोग आर्य-शिक्षा और आर्य-नीति के पूर्ण अधिकारी हैं। यह आर्यभाव ही हमारा कुल-धर्म और जाति-धर्म है। ज्ञान, धर्म, भक्ति और निष्काम कर्म ही आर्य-शिक्षा का मूल तथा ज्ञान, उदारता, प्रेम, साहस, शक्ति और विनय अर्थात नम्रता ही आर्य-चरित्र का लक्षण है। किन्तु जाति की रक्षा तभी हो सकती है जब आर्य-चरित्र का पुनर्गठन होगा। आर्य जाति का उद्देश्य है—"मानव जाति को ज्ञानी बनाना, संसार को उन्नत, उदार चरित्र की निष्कलंक शिक्षा देना, निर्बलों की रक्षा करना तथा प्रबल अत्याचारियों को दण्ड देना।" वे पददलित भारत के जातीय उत्थान को पहली आवश्यकता मानते थे। "किन्तु जाति की रक्षा तभी हो सकती है जब आर्य-चरित्र का पुनर्गठन होगा।" और इसके लिए "सारी जाति को विशेषतः नवयुवकों को उसी तरह की उपयुक्त शिक्षा, उच्चादर्श, आर्यभावोद्दीपक कर्मप्रणाली को प्राप्त करना आवश्यक है जिससे मातृभूमि की भावी सन्तानें ज्ञानी, सत्यनिष्ठ मनुष्य-प्रेमी, मातृभूमि के भाव की भावुक, साहसी, शक्ति-सम्पन्न और विनम्र हों। बिना ऐसा किये सनातन धर्म का प्रचार करना ऊसर में बीज बोने के समान है।"

वे स्पष्ट घोषित करते रहे कि भारत का प्राण आध्यात्मिकता है, भारत की स्वाधीनता इसी आध्यात्मिकता के रंग में विश्व को रंग देने के लिए है, यह उन्होंने

बार-बार कहा था। अपने प्रसिद्ध उत्तरपाड़ा-भाषण में उन्होंने ईश्वरीय संदेश देते हुए कहा था—

"मैं यह कहता हूं कि सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रीयता है। यह हिन्दू राष्ट्र सनातन धर्म को लेकर ही जन्मा है, उसी को लेकर यह चलता है और उसी को लेकर यह विकसित होता है। जब सनातन धर्म की हानि होती है तब इस राष्ट्र की भी अवनति होती है और यदि सनातन धर्म का विनाश संभव होता तो सनातन धर्म के साथ ही साथ इस राष्ट्र का भी विनाश हो जाता। सनातन धर्म ही है राष्ट्रीयता।"

इतने महान दायित्व को निभा सकने वाले हिन्दू समाज की ठीक मनोरचना करने के लिए उन्होंने कितनी ही बार महत्त्वपूर्ण बातें कहीं या लिखी थीं। वे समाज के विकास को प्राकृतिक शैली के रूप में देखते थे। प्रकृति में सर्वांग विकास तथा परस्पर पूरकत्व को न कि सर्वत्र संघर्ष को देखने के कारण, वे व्यक्ति, समाज तथा विश्व में सभी को एक दूसरे के लिए उपयोगी मानते थे। उनका दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट और निर्दोष है। 'दी ह्यूमन साइकिल' में उन्होंने लिखा था—

"अतः सम्पूर्ण समाज का उद्देश्य यह होना, और यह हो जाना, चाहिए कि··· व्यक्ति-व्यक्ति को जीवन और विकास की ऐसी स्थितियां उपलब्ध हों जिनसे व्यक्ति—कुछ अलग व्यक्ति या वर्ग या विशेषाधिकार प्राप्त जाति नहीं अपितु हर व्यक्ति—अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार, और जाति अपने व्यक्तियों के विकास के द्वारा, इस दिव्य पूर्णता की ओर प्रगति कर सकें।···स्वतन्त्रता और अनुकूलता से विभिन्नता और एकता के दोनों अनिवार्य तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं—व्यक्ति, समूह तथा जाति की स्वतन्त्रता, व्यक्ति की शक्तियों तथा समूह के सभी व्यक्तियों के प्रयत्नों की समन्वित अनुकूलता, जाति में सभी समूहों की समन्वित अनुकूलता तथा मानवमात्र में सभी जातियों की समुचित अनुकूलता। और स्वस्थ प्रगति तथा सफलता के लिए यही दो शर्तें हैं। उनका साक्षात्कार करना तथा उन्हें जोड़ना ही इतिहास में मानव जाति का अंधकारमय या धुंधला प्रयास रहा है।"

मानवमात्र की एकता स्वयं स्पष्ट है। एक जाति जो कुछ उपलब्ध करती है, उससे सम्पूर्ण मानवता पूर्णत्व की ओर बढ़ती है तो भी मानवमात्र की पूर्णता के नियम के अन्तर्गत ही प्रत्येक जाति पृथक-पृथक प्रयास करे, यही प्रकृति का विधान है। और प्रत्येक जाति के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति का विकास अन्दर से होता है, बाहर से थोपा हुआ नहीं, अपनी प्रकृति के अनुकूल होता है, स्वभावगत होता है, 'स्वधर्म' से होता है। व्यक्ति अल्पजीवी है अतः जाति ही, चिरकाल में प्राप्त होने वाले तथा चिरस्थायी, विकास का माध्यम हो सकती है। "समाज इसे पारावि[illegible]ता

से, भद्देपन से, या मशीनी तौर पर नहीं करा सकता। समूहात्मा को कोई अधिकार नहीं है कि व्यक्ति को अपने शरीर की एक कोशा मात्र माने, अपने भवन का एक पाषाण मात्र माने। मानव जाति इस प्रकार रचित नहीं है।" हर व्यक्ति स्वयं में ब्रह्म ही है और उसका पूर्ण विकास उसके स्व के पूर्ण विकास पर निर्भर है। यह विकास कैसे होगा, यह तो वही जानता है। "कोई राज्य या नियम-निर्माता या सुधारक उसे काट-छांट कर पूर्ण रूप में ढाल नहीं सकता। कोई चर्च या पुजारी उसे मशीनी ढंग से मुक्ति नहीं दे सकता। कोई धर्मी संघ, कोई वर्ग-जीवन या आदर्श, कोई राष्ट्र, कोई सभ्यता या मत या नैतिक, सामाजिक या धार्मिक शास्त्र यह कहने में समर्थ नहीं हो सकता कि मेरी इस विधि से ही और इतना ही तुम कार्य करके विकास करोगे और न किसी अन्य विधि से तथा न और अधिक विकास करने की तुम्हें अनुमति है।"

श्री अरविन्द के अनुसार विकास की लम्बी यात्रा में ये सभी चीजें रास्ते के पड़ाव मात्र हैं। व्यक्ति के निजी विकास की पूरी स्वतन्त्रता रहने पर ही वह अपने समाज के पूर्ण विकास में योगदान कर सकता है। और यह भी नहीं कि व्यक्ति सीधा मानवता से ही जुड़ा हुआ हो "वह जाति-प्रकार, एक वर्ग-प्रकार, अपने मानसिक प्रकार, जीवन प्रकार, शारीरिक प्रकार, आध्यात्मिक प्रकार का भी है जिसमें वह कुछ के सदृश है और कुछ से भिन्न है" और इसलिए भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों, संघों, वर्गों, संस्थाओं आदि से सम्बन्धित होकर उनके आदर्शों इत्यादि के जीवन की सहायता भी करता है। और ऐसा करने से आत्म-विकास भी करता है, राष्ट्र-विकास भी करता है और सम्पूर्ण मानवजाति का विकास भी करता है। श्री अरविन्द ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है—"और वह अपनी राष्ट्रीयता तक ही सीमित नहीं है। वह केवल अंग्रेज या फ्रांसीसी या केवल जापानी या भारतीय नहीं है। यदि वह अपने एक अंश में राष्ट्र का है, तो दूसरे अंश से उससे बढ़कर भी है और मानवजाति का है और वहां भी उसका एक भाग है, जो सबसे बड़ा है, जो मानव जाति तक सीमित नहीं है। वह इसके द्वारा परमात्मा से सम्बन्धित है और सब प्राणियों तथा भावी देवताओं से सम्बन्धित है।" और "इस प्रकार कोई भी समाज केवल मध्य की एक अवस्था है···व्यक्ति और मानवता के मध्य के मूल्य वाली है और इसका अपने लिए ही अस्तित्व नहीं है अपितु व्यक्ति व मानवता दोनों के लिए है और उन्हें परस्पर पूर्ण करने में सहायता देने के लिए है।

इस विशाल, महान और पूर्ण समाज-दर्शन पर आधारित भारतीय समाज में समानता, बंधुत्व और स्वतन्त्रता का स्पष्ट आदर्श उन्होंने प्रतिपादित किया था।

श्री अरविन्द ने "मौलिक सत्यान्वेषी चिन्तन, ओजस्वी और साहसपूर्ण अन्तर्ज्ञान तथा आध्यात्मिक और बौद्धिक सरलता" को युग की आवश्यकता के रूप

में ठीक ही पहचाना था। वे भारतीय समाज के सामाजिक दोषों को बीन-बीन कर निकाल बाहर करने का निरन्तर सन्देश देते रहे। जो चीजें हमारी संस्कृति के लिए अपमानजनक अथवा हमारी सभ्यता पर काले धब्बे के रूप में हों, उनसे केवल इसीलिए चिपके रहना कि वे हमारी हैं, तामसिक मोह है। उन्हें दूर किए बिना राष्ट्र का सात्विक भाव उदित हो ही नहीं सकता। "क्या भारत सभ्य है ?" लेख में उन्होंने यह स्पष्ट घोषित किया है कि "अवनति या विकृति से सम्बन्धित समस्त बातों को एक ओर छोड़ देने पर भी, हमारे जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों और सामाजिक प्रथाओं में कुछ ऐसी चीजें हैं जो अपने आप में भ्रान्त हैं, उनमें से कुछ तो समर्थन-योग्य नहीं हैं। वे हमारे राष्ट्रीय जीवन को दुर्बल करने वाली, हमारी सभ्यता को नीचे गिराने वाली तथा हमारी संस्कृति के लिए अपमानकारी है।" हमारे हिन्दू समाज में अस्पृश्यों के साथ किया गया व्यवहार अथवा ऊंच-नीच का सामाजिक विचार श्री अरविन्द की दृष्टि में कदापि समर्थनीय नहीं है।

वन्देमातरम् (२२-६-१६०७) में प्रकाशित अपने एक लेख में उन्होंने इस दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही थी—

"मूल जाति-व्यवस्था की पतित विकृतियों के पीछे जो अधम विचार है और वह मानसिक वृत्ति जो जाति-अभिमान और अहंकार, जन्म-संयोग पर निर्भर ईश्वरीय कही जाने वाली श्रेष्ठता तथा स्थिर व असहिष्णु असमानता की मिथ्या नींव पर उन विचारों को टिकाए हुए हैं, दोनों (विचार व वृत्ति) ही उस सर्वोच्च शिक्षा से, हिन्दुत्व की आधारभूत भावना से, असंगत हैं जो प्रत्येक व्यक्ति में एक ही अपरिवर्तनीय तथा अविभाज्य ब्रह्म का दर्शन करती है।" श्री अरविन्द ने आगे इसे राष्ट्रवादी दृष्टि से भी असंगत बताया है क्योंकि राष्ट्रवाद का आधार भी समानता का दर्शन है—"राष्ट्रवाद राष्ट्र में उस दिव्य एकता के साक्षात्कार की आवेगमयी आकांक्षा मात्र है जिस एकता में सभी अंगभूत व्यक्ति चाहे उनके कार्य राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक रूपों में कितने ही विभिन्न और बाह्यतः असमान हों, फिर भी वस्तुतः और मूलतः एक और समान होते हैं। राष्ट्रवाद के उस आदर्श में जो भारत विश्व के समक्ष रहेगा, मानव और मानव, जाति और जाति तथा वर्ग और वर्ग के बीच में अनिवार्य समानता होगी, और, सभी व्यक्ति राष्ट्र में साक्षात्कृत विराट पुरुष के विभिन्न किन्तु समान व एकतायुक्त अंग होंगे।"

इस परिवर्तन के लिए केवल बाहरी यन्त्र का परिवर्तन पर्याप्त नहीं है, भावना का परिवर्तन करने की आवश्यकता है। "समता के वेदान्त-सिद्धान्त की पूर्ण व आदर्श भावना में समाज स्वयं को पुनः ढाले, इसकी तर्कसंगत आशा करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक भारतीय पुरुष, स्त्री और बालक को अपने धर्म और दर्शन के आदर्शों की शिक्षा दें।"

विकृत जाति-व्यवस्था को श्री अरविन्द किसी प्रकार भी तर्कसंगत नहीं पाते क्योंकि "एक ऐसा समाधान, जो राष्ट्र के छठे भाग को स्थायी अपमान, सतत गन्दगी, आतंक और वाह्य जीवन की अस्वच्छता और क्रूरतापूर्ण पशुतुल्य जीवन से ऊपर उठाने के स्थान पर, उसे शेप राष्ट्र से पृथक कर देता है, कोई समाधान नहीं है। यह तो अपनी दुर्वलता को स्वीकार करना है। और यह समाज-शरीर पर तथा समाज के समष्टिगत आध्यात्मिक, वौद्धिक, नैतिक, एवं मौलिक कल्याण पर एक स्थायी घाव है।"

श्री अरविन्द ने ठीक ही कहा है कि मूल जाति-व्यवस्था में मनुष्य की जाति उसके धर्म पर अर्थात उसके आध्यात्मिक, नैतिक और व्यावहारिक कर्तव्यों पर निर्भर करती थी और उसका धर्म उसके स्वभाव पर निर्भर करता था—मूलतः निष्ठावान ब्राह्मण और निष्ठावान शूद्र दोनों ही एक विराट पुरुप के आवश्यक अंग थे और अनिवार्य रूप से उनमें कोई असमानता नहीं थी।" कालान्तर में यह व्यवस्था विकृतियों का शिकार हो गयी। अव जाति का निश्चय आध्यात्मिक गुणों के आधार पर नहीं किया जाता है अपितु व्यवसाय और जन्म की क्षुद्र कसौटियों से जो भौतिक हैं और "इस परिवर्तन से जाति-व्यवस्था का हिन्दुत्व की आधारभूत प्रवृत्ति से विरोध हो गया है क्योंकि हिन्दू धर्म का सिद्धान्त ही है आध्यात्मिक को प्रधान और भौतिक को गौण मानना।" अतः जाति-व्यवस्था व्यर्थ हो गई है। जाति-प्रथा में अव कर्त्तव्य-भावना के स्थान पर अहंकार-भावना महत्त्वपूर्ण होने से भारत राष्ट्र दुर्वल हो गया। अव भी यदि जाति-व्यवस्था को ठीक नहीं किया गया और आधुनिक युग के अनुरूप नहीं वनाया गया तो यह संस्था राष्ट्र को और भी दुर्वल करेगी। श्री अरविन्द के शव्दों में—"यदि जाति-व्यवस्था परिवर्तन अस्वीकार कर दे, तो यह मात्र सामाजिक खण्डहर रह जाएगी और खण्ड-खण्ड हो जाएगी। यदि यह अपना रूप परिवर्तन कर लेगी तो सभ्यता को परिपूर्ण करने में इसका भी वड़ा योगदान होगा।"

५. शिक्षा और राष्ट्रीय शिक्षा

श्री अरविन्द जीवन का सर्वांगीण विचार करते हुए 'शिक्षा' जैसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र पर विचार की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। वे स्वयं सफल प्राध्यापक और लोकप्रिय प्राचार्य भी रह चुके थे और पूर्व व पश्चिम, अतीत और भविष्य तथा सिद्धान्त व व्यवहार के समन्वय का मार्ग प्रशस्त करना जानते थे। अतः उन्होंने अपने सर्वांग दर्शन के अनुरूप ही समन्वयात्मक व सर्वांग शिक्षा-दर्शन प्रस्तुत किया। और यह शिक्षा-दर्शन उनके पांडीचेरी पहुंचने के पहले ही 'कर्मयोगी' पत्र में लिखे गए लेखों में प्रकाशित हो चुका था। वर्ष १९१० में प्रकाशित आठ निबन्धों में उन्होंने शिक्षा-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए थे। उनकी कृति 'भारत का मस्तिष्क' (दी ब्रेन आफ़ इण्डिया) में भी इस विषय पर कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है तथा अन्यत्र भी [यथा 'आर्य' में १९२० के नवम्बर, दिसम्बर व जनवरी के अंकों में प्रकाशित तीन निबन्धों इत्यादि में।]

अंग्रेजी शासकों की शिक्षा-पद्धति के विरोध में जब 'राष्ट्रीय शिक्षा' के लिए विद्यालयों और कालेजों की स्थापना की जा रही थी, तब भी श्री अरविन्द को यह ध्यान था कि 'राष्ट्रीय शिक्षा' की बात तो तब की जा सकती है जब 'शिक्षा' का स्वरूप पता हो। किन्तु कितने लोग शिक्षा का मन्तव्य जानते हैं ?

'राष्ट्रीय शिक्षा की भूमिका' शीर्षक निबन्ध में श्री अरविन्द के ये शब्द महत्त्वपूर्ण हैं—"क्योंकि यदि हमें अति स्पष्ट रूप से यही पता नहीं है कि शिक्षा सचमुच क्या है, या क्या होनी चाहिए, तो अवश्य ही हमें यह और भी कम ज्ञात होता प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय शिक्षा से हमारा क्या अभिप्राय है...हमें काम है भावना से, जो जीवित और सप्राण बात है जिससे हमें काम है और उसमें प्रश्न आधुनिकता व प्राचीनता के मध्य चुनाव का नहीं है, अपितु एक बाहर से लायी गई सभ्यता तथा भारतीय मन व प्रकृति की महत्तर सम्भावनाओं के मध्य चुनाव का है, प्रश्न वर्तमान और अतीत के मध्य चुनाव का नहीं है अपितु वर्तमान और भविष्य के मध्य चुनाव का है।"

राष्ट्रीय शिक्षा का यह अर्थ नहीं है कि भारत के पिछले युगों के पाठ्यक्रम या तत्कालीन विधियों को अपना लिया जाए अपितु यह कि भारत-राष्ट्रात्मा की

अभिव्यक्तियों की महती सम्भावना के लिए उपयुक्त विधि को अपनाया जाए। महत्त्व की बात यह नहीं है कि यह पढ़ा जाए या वह, संस्कृत पढ़ी जाए या नहीं, विज्ञान पढ़ा जाए या नहीं क्योंकि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है मानव-मन का विकास, मानव-आत्मा का विकास तथा 'ज्ञान, चरित्र व संस्कृति' का विकास। यह भी महत्त्व की बात नहीं है कि विज्ञान की कौन-सी शाखा पढ़ी जाए अपितु यह कि वैज्ञानिक मन के निर्माण के उपरान्त हम उसे "मानव मन की शक्तियों से और अपनी बुद्धि व प्रकृति के जो कम प्रकाशप्रद व कम शक्तिप्रद नहीं हैं, ऐसे अन्य ज्ञान से वैज्ञानिक ज्ञान को कैसे सम्बद्ध करेंगे।" बस इसी बात में "भारतीय मन, इसकी मनोवैज्ञानिक परम्परा, इसकी पैतृक क्षमता, प्रवृत्ति तथा ज्ञान का वैशिष्ट्य परम महत्त्व के सांस्कृतिक तत्त्व प्रस्तुत करता है।"

श्री अरविन्द के शब्दों में—"सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा का न यह उद्देश्य हो सकता है और न सिद्धान्त कि आधुनिक सत्य व ज्ञान की अवहेलना करे अपितु यह होगा कि हमारी अपनी सत्ता को, हमारे अपने मन को, हमारी अपनी आत्मा को आधार बनाए।"

श्री अरविन्द इस बात से सावधान करते हैं कि भारत पाश्चात्य जगत की शीघ्र मरने को तैयार सभ्यता की—"वैज्ञानिक, बौद्धिकतावादी, औद्योगिक, मिथ्या जनतांत्रिक सभ्यता की"—नकल करे जबकि पश्चिम के श्रेष्ठ विद्वान स्वयं एशिया व भारत से नई आध्यात्मिक सभ्यता का प्रकाश पाने में प्रवृत्त हैं।

श्री अरविन्द इस तर्क का भी खण्डन करते हैं कि विश्व भर में मानव-मन एक सा है अतः देश का वैशिष्ट्य कोई अन्तर नहीं डाल सकता। वे इसे "तर्क का एक पुराना और जीर्ण अन्ध-विश्वास" कहते हैं, "क्योंकि मानव जाति के सर्व-मन और सर्व-आत्मा के अन्तर्गत अनन्त विविधता से तथा सर्वसाधारणता व वैशिष्ट्य से युक्त व्यक्ति-मन व व्यक्ति-आत्मा है और इन दोनों के मध्य में स्थित है राष्ट्र-मन; राष्ट्र-आत्मा।" और यथार्थ शिक्षा वही होगी जो न व्यक्ति की उपेक्षा करे, न राष्ट्र की, न मानव-समाज की।"

श्री अरविन्द का शिक्षा-दर्शन भारत के इस वैशिष्ट्य पर आधारित है कि यहां मानव को आत्मा के रूप में देखा गया है, शरीर, प्राण या मन के रूप में नहीं। मानव भगवान का एक अंश है, आत्मा है। उसके पूर्णत्व की प्राप्ति में सहायता देने के लिए ही शरीर, प्राण व मन हैं। मनुष्य मानसिक प्राणी भी है, नैतिक प्राणी भी है, बौद्धिक प्राणी भी है, किन्तु ये सब स्वरूप आत्मा की शक्तियों के प्रकाशन का परिणाम मात्र हैं, वे आत्मा का स्थान नहीं ले सकते। मनुष्य मूलतः आत्मा है और "दिव्यत्व की प्राप्ति ही उसका परमार्थ भी है, परम पुरुषार्थ भी।" भारतीय दृष्टि में 'राष्ट्र' 'संगठित राज्य' का पर्यायवाची नहीं है अपितु विश्वात्मा की एक जातीय अभिव्यक्ति है, जिसका स्वभाव है, स्वधर्म है अर्थात

एक विशिष्ट जीवन है, जिसके अपने सिद्धान्त हैं। भारतीय दृष्टि में मानवता भी विश्वात्मा की ही मानव-समाज में अभिव्यक्ति है, जिसका एक विशिष्ट भाव व एक विशिष्ट धर्म है तथा एक आध्यात्मिक उद्देश्य भी। व्यक्ति, राष्ट्र, मानव जाति सभी को पूर्णत्व व एकत्व की प्राप्ति आत्म-साक्षात्कार से करनी ही होगी ताकि अपनी विकास-यात्रा पूर्ण हो सके। और इस भारतीय दृष्टि के अनुरूप ही शिक्षा और राष्ट्रीय शिक्षा का यथार्थ स्वरूप हो सकता है। "सच्ची शिक्षा वही होगी जो व्यक्ति व राष्ट्र की आत्मा के मन व शरीर में यथार्थ कार्य करने का यंत्र होगी।" और इस प्रकार "यह शिक्षा ऐसी होगी जो व्यक्ति के लिए आत्मा व उसकी शक्तियों व संभावनाओं को मुख्य लक्ष्य वनाएगी, राष्ट्र के लिए राष्ट्र-आत्मा और उसके धर्म के संरक्षण, वल-वर्द्धन तथा समृद्धिकरण को ध्यान में रखेगी तथा व्यक्ति व राष्ट्र दोनों को ही मानव व मानव जाति के जीवन व विकासशील मन व आत्मा में उन्नत करेगी।" और यह सव करते हुए यह सदैव स्मरण रखेगी कि "मानव का चरम लक्ष्य अपने आत्मस्वरूप का जागरण और विकास है।"

श्री अरविन्द के अनुसार "शिक्षा का यथार्थ आधार वालक, किशोर व वयस्क मानव-मन का अध्ययन" ही हो सकता है। इसका कारण यह है कि शिक्षा का उपकरण मन ही है और निरन्तर गतिशील मन को समझना ही मन को ढालने की विधि जानने के लिए शिक्षाविद् की पहली आवश्यकता है।

श्री अरविन्द ने यथार्थ शिक्षण के तीन अमूल्य सिद्धान्त वताए हैं। प्रथम यह कि शिक्षा देने की वस्तु ही नहीं है, शिक्षक का कार्य केवल सहायता देना या मार्ग दर्शन करना है, शिक्षा थोपना नहीं। विद्यार्थी किसी भी प्रकार का हो, लड़का हो या लड़की हो, वालक हो या वयस्क हो, सभी पर यह सिद्धान्त ठीक वैठता है। श्री अरविन्द के शब्दों में—"यथार्थ शिक्षा का प्रथम सिद्धान्त है कि कुछ भी सिखाया नहीं जा सकता। अध्यापक न तो सिखाने वाला है, न काम लेने वाला, अपितु सहायक व पथप्रदर्शक है।···वह वालक को ज्ञान नहीं देता, अपितु उसे यह वताता है कि वालक अपने लिए ज्ञान कैसे प्राप्त करे। वह ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि वह भीतर पहले से है; वह विद्यार्थी को केवल यह दिखाता है कि वह कहां स्थित है और कैसे उसका ऊपरी तल पर आने का स्वभाव डाला जा सकता है।"

दूसरा सिद्धान्त यह है कि विद्यार्थी के मन को उसके 'धर्म' के अनुसार विकास करने देना चाहिए। श्री अरविन्द के शब्दों में—"दूसरा सिद्धान्त यह है कि मन के विकास में मन का भी परामर्श लेना होगा।" वात यह है कि "हर व्यक्ति में दिव्यता का अंश है, कुछ वैशिष्ट्य है···और कार्य यही है कि इसको खोज निकाला जाए, विकसित किया जाए और प्रयोग में लाया जाए। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए विकासशील आत्मा को अपने में से सर्वोत्तम को प्रकट करने में तथा

उसे श्रेष्ठ उपभोग के लिए परिपूर्ण करने में सहायता करना।"

शिक्षा का तीसरा सिद्धान्त विद्यार्थी को उसके अपने वातावरण में विकसित करना है—अपने राष्ट्र, अपने युग, अपने समाज के अनुकूल। श्री अरविन्द के शब्दों में—शिक्षा का तीसरा सिद्धान्त है समीप से दूर के लिए कार्य करना, जो है उससे, जो होगा उस तक। मानव-प्रकृति का आधार प्रायः सदा ही अपनी आत्मा के अतीत के अतिरिक्त अपनी आनुवंशिकता, अपना परिवेश, अपना राष्ट्र, अपना देश हैं जिनका वह अभ्यस्त है।···हमें···मन को ऐसे जीवन के बिम्बों व विचारों से व्याप्त नहीं कर देना चाहिए जो···विदेशी हैं।" इसमें अपवादस्वरूप वे व्यक्ति हो सकते हैं जो स्वभावतः अपने परिवेश के प्रति विद्रोही होते हैं, उन्हें भी स्वतन्त्र विकास का अवसर मिलना चाहिए किन्तु अधिकांश के लिए तो "भगवान की ही यह व्यवस्था है कि किसी विशिष्ट राष्ट्र, युग व समाज से सम्बद्ध हों, कि वे अतीत के पुत्र हों, वर्तमान के स्वामी हों तथा भविष्य के निर्माता हों।" अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों का महत्त्व है। "अतीत हमारा आधार है, वर्तमान हमारी सामग्री है तथा भविष्य हमारा लक्ष्य व शिखर है।" और "राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था में इन तीनों में से प्रत्येक को ही अपना उचित व स्वाभाविक स्थान मिलना चाहिए।"

विद्यार्थी का मन ही शिक्षाविद् का उपकरण है। इस मन के चार अंग हैं—चित्त, मन, बुद्धि तथा अन्तःप्रज्ञा। चित्त में अतीत की स्मृतियां व वासनाएं सुरक्षित रहती हैं। मन छठी ज्ञानेन्द्रिय है। बुद्धि विचार का यन्त्र है। अन्तःप्रज्ञा का अभी सर्वसामान्य मानव में पर्याप्त विकास नहीं हुआ है। श्री अरविन्द के शब्दों में "शिक्षाविद् का प्रथम कार्य है बालक में छहों ज्ञानेन्द्रियों का यथार्थ उपयोग विकसित करना···तथा कर्मेन्द्रियों से अधिकतम सहायता लेना।" कर्मेन्द्रियों को ठीक प्रकार से उपयोग में लाने की विधि बताते हुए वे स्पष्ट करते हैं—उदाहरणार्थ नेत्र जो देखते हैं, तथा मन जो अनुभव करता है, उसे अभिव्यक्त करने के लिए हाथ प्रशिक्षित किए जाने चाहिए। सम्पूर्ण अन्तकरण को प्राप्त ज्ञान की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए वाणी को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए।" बुद्धि का इससे भी अधिक उपयोग है तथा बुद्धि अपने सभी प्रकार के कार्य कर सके, यह भी शिक्षाविद् के लिए महत्त्वपूर्ण व ध्यान में रखने योग्य बात है। बुद्धि का सम्यक् विकास होने पर ही उसके द्वारा निर्णय, कल्पना, स्मृति, अवलोकन, तुलना, तर्क करना, वर्गीकरण, सामान्यीकरण, निगमन, अनुमान, इत्यादि ठीक से हो पाएंगे। "यंत्र के इन सब महत्त्वपूर्ण कार्यों को उच्चतम व सूक्ष्मतम कार्यशक्ति तक उठाना आवश्यक है, यदि बालक की शिक्षा अपूर्ण व एकांगी न रखनी हो।" निस्सन्देह अन्तःप्रज्ञा का उच्चतर विकास तो किसी-किसी में ही मिलता है परन्तु उसे 'प्रतिभा' के रूप में देखा ही जाता है। श्री अरविन्द उसके विकास पर बल देते हैं—"ज्ञान

के इस उच्चतम तल की विशिष्ट शक्तियां हमें मुख्यतया प्रतिभा के चमत्कार के रूप में ज्ञात हैं—परम विवेक, सत्य का अन्तः ज्ञानात्मक दर्शन, वाणी की पूर्ण प्रेरणा, ज्ञान का इतना प्रत्यक्ष दर्शन जो बहुधा ऐसा रहस्य-प्रकाशन करे कि मनुष्य को सत्य का पैगम्बर बना दे।" और इस 'प्रतिभा' के विषय में शिक्षाविद् स्वयं कुछ नहीं जानते, यही दुर्भाग्य की बात है क्योंकि इस 'प्रतिभा' के अन्तर्गत गिनी जाने वाली 'क्षमताओं' के कारण ही मानव-जाति इतनी विकसित हो पाई है। "निरा शिक्षक तो प्रतिभा को निरुत्साहित करने व कुचलने के लिए पूर्ण प्रयत्न करता है, किन्तु अधिक उदार शिक्षक उसका स्वागत करता है। मानव जाति के लिए इतनी महत्त्वपूर्ण शक्तियों को विचार-बाह्य नहीं किया जा सकता। उनकी उपेक्षा करना मूर्खता है।"

श्री अरविन्द मानव की नैतिक व भावनात्मक प्रकृति के विकास को तो अनिवार्य मानते हैं, किन्तु बालक के नैतिक विकास के लिए नैतिक वा धार्मिक पुस्तकों के अध्यापन की विधि को व्यर्थ मानते हैं क्योंकि "हृदय, मन नहीं है और मन को शिक्षा देना हृदय को सुधार दे यह आवश्यक नहीं है।" यह भी हो सकता है कि ऐसे नैतिक ग्रन्थों व धर्म-ग्रन्थों को पढ़ने से कुछ विचार अन्तःकरण में पड़ कर स्वभाव को परिवर्तित कर दें किन्तु "नैतिक पाठ्य-पुस्तकों का ख़तरा यह है कि वे उच्च बातों को सोचना मशीनी व कृत्रिम कर देती है और जो कुछ भी मशीनी व कृत्रिम है, शुभ के लिए व्यर्थ है।"

श्री अरविन्द मानव के नैतिक स्वभाव की दृष्टि से भावों, संस्कारों तथा स्वभाव का महत्त्व मानते हैं। बालक को ठीक भावों का अभ्यास हो, यह ऊपरी शासन से नहीं हो सकता। बालक यदि कायरतावश बाह्य नैतिक आज्ञापालन कर भी ले तो भी उसका आन्तरिक जीवन उससे अप्रभावित रहेगा और वह यथार्थ नैतिक व्यक्ति नहीं बन पाएगा। ध्यान देने की बात यह है कि "मानव जिसकी प्रशंसा करता है, और जिसे स्वीकार करता है, वही उसके स्वयं का अंग बन पाता है; शेष तो नक़ली चेहरा रहता है।" श्री अरविन्द सेंट्रल हिन्दू कालिज (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पहले श्रीमती एनीबीसेंट द्वारा स्थापित) में भारतीय आवरण में अंग्रेज़ पद्धति को इसीलिए 'यूरोपीय परिणाम' देने वाला बताते हैं। तब फिर बालक में नैतिकता जगाने के लिए क्या किया जाए? यूरोपीय पद्धति तो व्यर्थ है, उससे अच्छी चीज तो प्राचीन भारतीय गुरु-पद्धति थी जिसमें गुरु के ज्ञान इत्यादि के प्रति असीम श्रद्धा के कारण विद्यार्थी नैतिक अनुशासन सीखता था। "नैतिक शिक्षा का प्रथम नियम है—सुझाव देना और आमंत्रित करना, न कि शासन करना या आरोपित करना।" सुझाव देने के लिए श्री अरविन्द के अनुसार सर्वोत्तम विधि है "अपना निजी उदाहरण, नित्य वार्तालाप तथा प्रतिदिन पुस्तकों का पढ़ा जाना।" किन्तु ये पुस्तकें छोटे बालकों के लिए एक प्रकार की होनी

चाहिए और बड़े विद्यार्थियों के लिए दूसरे प्रकार की। बालकों के लिए वे होनी चाहिए "अतीत के उच्च उदाहरण जो नैतिक शिक्षा के रूप में नहीं अपितु परम रोचक रूप में हों" और बड़े विद्यार्थियों के लिए हों "महान आत्माओं के महान विचार, साहित्य के वे अंश जो उच्चतम भावों को जगा दें और उच्चतम आदर्शों व आकांक्षाओं को प्रेरित करें, इतिहास के वर्णन व जीवनी जो उन महान विचारों, श्रेष्ठ भावों और आकांक्षित आदर्शों का उदाहरण हों।" इसके साथ यह भी आवश्यक है कि आर्य गुणों का अभ्यास करने के लिए विद्यार्थियों को व्यावहारिक अवसर प्रदान किए जाएं।

श्री अरविन्द एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात की ओर भी ध्यान देते हैं। यदि किसी विद्यार्थी में "दुर्गुण हैं, बुरी आदतें हैं, कुसंस्कार हैं" तो उससे कर्कशतापूर्वक व्यवहार न करके, संयम के मार्ग से उन्हें दूर करना सिखाना होगा।

धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में श्री अरविन्द का स्पष्ट मत है कि यूरोपीय पद्धति का अनुकरण करते हुए धर्म-ग्रन्थों के अंश पढ़ाकर बालक को पवित्र बना लेने की कल्पना करना एक भूल है। "धर्म जिया जाने के लिए होता है, सिद्धान्त रूप में पढ़ने के लिए नहीं।" किन्तु यदि धार्मिक साधना भी प्रार्थना, यज्ञ, ध्यान, भक्ति आदि किसी रूप में धार्मिक जीवन जीने के साधन रूप में की जा सके तभी धार्मिक शिक्षा का उपयोग हो सकता है। किन्तु विद्यालयों में धर्म-ग्रंथ चाहे पढ़ाए जाएं या नहीं, धर्म का सारतत्त्व अर्थात परमात्मा के लिए, मानव जाति के लिए, देश के लिए, अन्यों के लिए तथा इन सब में स्वयं के लिए जीना उस प्रत्येक विद्यालय का आदर्श हो जाना चाहिए जो अपने को राष्ट्रीय कहता है।" हिन्दू धर्म की यह भावना राष्ट्रीय विद्यालयों में व्याप्त होनी चाहिए।

श्री अरविन्द उस पद्धति से सहमत नहीं हैं जो बहुत से विषयों को थोड़ी-थोड़ी देर पढ़ाने के खिचड़ी-मार्ग को अपनाती है। "पुरानी पद्धति भी एक या दो विषयों को भली प्रकार और गहराई से पढ़ाना और तब अन्य विषयों की ओर बढ़ना और अवश्य ही यह आधुनिक से अधिक तर्कसंगत विधि थी।" श्री अरविन्द इस तर्क का खण्डन करते हैं कि एक ही विषय को बहुत देर तक पढ़ाते रहने से बालक थक जाते हैं अथवा उनकी एकाग्रता भंग हो जाती है क्योंकि विषय में यदि रुचि बनी रहे तो न थकावट का प्रश्न है, न एकाग्रता भंग होने का।

जहां तक बालक को शिक्षा देने के माध्यम का प्रश्न है, श्री अरविन्द 'मातृ-भाषा' को सर्वोत्तम माध्यम मानते हैं और बालक को अपनी मातृभाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाने पर ही उसे दूसरी भाषा के सीखने में प्रवृत्त करने को ठीक मानते हैं, क्योंकि "अपनी मातृभाषा में भाषायी क्षमता का असंतोषजनक विकास होने पर, दूसरी भाषाओं को सीख लेना असंभव है। श्री अरविन्द बालक के मानसिक गुणों के अनुसार शिक्षा देने की विधि बताते हैं। प्रत्येक बालक में कल्पना का

गुण होता है, नाटकीय क्षमता होती है, वीर-पूजा की भावना होती है, देश-भक्ति होती है और इन गुणों का उपयोग करते हुए उसे राष्ट्रीय इतिहास और साहित्य से अनजाने ही परिचित कराया जा सकता है। उसमें जानने की उत्सुकता, विश्लेषण करने की क्षमता आदि जो गुण होते हैं, उनका उपयोग करते हुए उसे सहज रूप में विज्ञान की ओर बढ़ाया जा सकता है। प्रत्येक बालक में पूछने की उत्सुकता होती है, इसका लाभ उठाते हुए उसे स्वाभाविक रूप में विश्व व स्वयं का ज्ञान दिया जा सकता है। उसकी कल्पना-शक्ति व अनुकरण की क्षमता का उपयोग उसकी कलात्मक शिक्षा में हो सकता है।

श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा की सर्वोत्तम विधि बालक के उन गुणों को विकसित होने देना है जो प्रकृति ने उसे प्रदान किए हैं। और "प्रथम कार्य है बालक के जीवन में, कार्य और ज्ञान में, रुचि जगाना, उसे ज्ञान के उपकरणों को चरम पूर्णता के साथ विकसित करना, उसे अपने प्रयोग की भाषा पर पूर्णाधिकार प्रदान करना।" हो सकता है, इसमें अन्य शिक्षा-पद्धतियों की तुलना में बालक पर अधिक समय लग जाए किंतु बाद में जितनी शीघ्रता से वह सीखेगा, उससे इधर का घाटा पूरा हो जाएगा। सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि "इस समय वह कुछ चीज़ें बुरी तरह सीखता है, तब वह अनेक चीज़ें अच्छी तरह पूर्णता से सीखेगा।"

श्री अरविन्द ज्ञानेन्द्रियों के ठीक विकास पर भी बड़ा बल देते हैं क्योंकि शिक्षा के लिए वे आवश्यक साधन हैं। इसके लिए वे नाड़ी-शुद्धि तथा चित्त-शुद्धि की विधि बताते हैं तथा 'अभ्यास' का भी मार्ग सुझाते हैं। तदनन्तर वे मानसिक शक्तियों (स्मृति आदि) तथा तार्किक क्षमता को बढ़ाने पर भी बल देते हैं।

श्री अरविन्द प्राचीन भारतीय शिक्षा-व्यवस्था के बड़े प्रशंसक हैं तथा उसके सारतत्त्व को आधुनिक काल के अनुरूप नयी व्यवस्थाओं में प्रतिष्ठित करने को ठीक मानते हैं। प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था में से एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'ब्रह्मचर्य' को भी वे तर्कपूर्वक प्रस्तुत करते हैं। 'भारत का मस्तिष्क' में उन्होंने ब्रह्मचर्य की विस्तार से व्याख्या की है, उससे किस प्रकार भौतिक व आध्यात्मिक शक्तियां प्राप्त होकर आदर्श विद्यार्थी निर्मित होता है, यह उन्होंने बड़ी कुशलता से बताया है। ब्रह्मचर्य पालन के अतिरिक्त श्री अरविन्द शारीरिक शिक्षा को भी अत्यंत आवश्यक मानते हैं—खेलना, व्यायाम करना, इत्यादि। शरीर के सम्यक् विकास के लिए उनकी शिक्षा-प्रणाली में वे अत्यंत आवश्यक मान्य हैं।

इस प्रकार श्री अरविन्द ने शिक्षा-संबंधी जो विचार प्रकट किए थे, उन्हें मूर्त रूप देने के लिए श्री अरविन्द आश्रम, पांडीचेरी में 'श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र' प्रयत्नशील है।

६. वर्तमान के लिए श्री अरविन्द का सन्देश

वेदान्त और योग को जीवन में चरितार्थ करने वाले श्री अरविन्द सनातन धर्म की नवनवोन्मेपशालिनी शक्ति के असाधारण उदाहरण थे। उनका ज्ञान साक्षात्कृत, उनका योग साक्षात्कारी तथा उनका जीवन दिव्य-प्रेरणा से चालित होने के कारण उनकी वात-वात में मंत्र-शक्ति का दर्शन होता है। त्रिकालावाधित ऋपि-दृष्टि-प्राप्त श्री अरविन्द ने जिस सूक्ष्मता से भारतराष्ट्र की चिति के स्वरूप को हृदयंगम कराने के लिए अपने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण काल राजनीति को अर्पित किया, उसी सूक्ष्मता से अतिमानस को पृथ्वी पर उतारने की अपनी पद्धति की दार्शनिक प्रस्तुति तथा तदर्थ साधकों के मार्गदर्शन के लिए उन्होंने राजनीति से विराम भी लिया। उनके भाषणों, लेखों व ग्रंथों तथा पत्रव्यवहार या प्रत्यक्ष वातचीत में दिए गए वक्तव्यों की विशाल राशि के आंशिक आकलन से भी यह स्पष्ट हो सकता है कि श्री अरविन्द ने मानव की व्यष्टिगत तथा समष्टिगत, चिरकालिक तथा एतत्कालिक, सार्वभौम तथा एतद्देशीय और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक अनेकानेक समस्याओं के स्वरूप का अन्तर्वाह्य निरीक्षण और आकलन कर उनका एक तर्कपूर्ण तथा अनेक अंशों में मौलिक समाधान भी प्रस्तुत किया है। निस्सन्देह व्यक्ति और समाज की जो समस्याएं आज विश्व-भर के मनीपियों की चिन्ता अथवा चिन्तन का विषय वनी हैं, उन पर सामान्यत: समस्त मानवता को और विशेपत: हम भारतीयों को, श्री अरविन्द के महान विचार-दर्शन के प्रकाश में, विचार करना समाधान के समीप पहुंचाने वाला है क्योंकि श्री अरविन्द का चिन्तन पूर्व और पश्चिम, धर्म और विज्ञान, अतीत और वर्तमान, आस्तिकता और नास्तिकता आदि सभी को ग्रहण करता हुआ तथा अंतत: उनसे ऊपर उठकर एक अधिक दीप्तिमान लक्ष्य की ओर उन्मुख होता हुआ दिखाई देता है। उनमें एक साथ दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द, एक साथ शिवाजी, रामदास व ज्ञानेश्वर, एक साथ राम, वसिष्ठ और वाल्मीकि प्रभृति त्रिकों के दर्शन होते हैं। उनमें ज्ञान, भक्ति और कर्म, तंत्र, योग और विज्ञान, विश्लेपण और संश्लेपण, विचार और विचारातीतता इत्यादि का ऐसा सुन्दर समन्वय मिलता है कि लगता है कि विश्व जिस आनन्द के राजकोप की कुंजी के अभाव में समस्त वैज्ञानिक

उपलब्धियों के होते हुए भी विषण्ण तथा निराश-सा हो रहा है, उसे ही भारतभूमि में प्राचीन काल के ऋषियों द्वारा सुरक्षित रखी जाने के पश्चात भी विस्मृत हो गयी देखकर श्री अरविन्द ने उठाकर, चमकाकर, पुनः प्राप्य वना दिया है। श्री अरविन्द का सन्देश युग-युगों के लिए है, यह सत्य है क्योंकि वह शाश्वत तत्त्वों पर आधारित विकास का राजमार्ग है तथापि यह तो और भी सत्य है कि वर्तमान के लिए वह और भी अधिक उपादेय है क्योंकि उस कर्मयोगी की महासमाधि के पश्चात से अभी तक भारत व विश्व की समस्याओं के समाधान अथवा परि-स्थितियों की दृष्टि से स्थिति पहले से बिगड़ी ही है, वनी नहीं और भौतिकतावादी झंझावात प्रभृति बाधाएं विकरालतर ही हुई हैं, मृदुतर नहीं।

श्री अरविन्द का जीवन-दर्शन परिपूर्ण आध्यात्मिक दर्शन है जिसमें भौतिक-वादी जीवन-दर्शन भी समाविष्ट है और सभी धर्म स्वीकृत हैं अर्थात जिसमें न देह की अस्वीकृति है, न आत्मा की और जिसके अनुसार नास्तिक का आत्मा को नकारना भी त्रुटिपूर्ण है, संन्यासी का देह या विश्व को नकारना भी। 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' के स्वरूप का यथार्थ साक्षात्कार कराने वाली उनकी दृष्टि 'ब्रह्म परम सत्य है तथा विश्व ब्रह्म है' का सन्देश देती हुई आज भारत व यूरोप दोनों में ही अतिवाद से हुई भूलों का संकेत करती हुई एक वांछनीय सामंजस्य का मार्ग प्रशस्त करती है। उनके अनुसार अनीश्वरवाद या अज्ञेयवाद की भी उपयोगिता है—परमतत्त्व-सम्बन्धी हमारी भ्रांति का स्मरण कराने के लिए। नास्तिकता मठ-मन्दिरों और गिरजाघरों की बुराइयों तथा सम्प्रदायों की संकीर्णता के विरुद्ध एक आवश्यक प्रतिक्रिया है।" और "ईसा और रामकृष्ण के अन्दर ही भगवान को देखना और उनकी वाणी सुनना यथेष्ट नहीं है, हमें हक्सले और हेगेल के अन्दर भी उन्हें देखना होगा और उनकी वाणी सुननी होगी।" 'दी लाइफ डिवायन' में श्री अरविन्द ने अपने तत्त्वज्ञान को प्रस्तुत किया है। उसमें अद्वैत वेदांत को जिस प्रकार युगीन भाषा में प्रस्तुत किया गया है—विज्ञान, मनोविज्ञान, पाश्चात्य दर्शन तथा अपनी अनुभूति के आधार पर —उसे देखकर यह सहज ही कहा जा सकता है कि पृथ्वी पर रहते हुए सत्ता के सीमित और खण्ड-खण्ड रूप से ऊपर उठकर उसके समग्र रूप की उपलब्धि करना, अशुभ के परित्याग व शुभ के ग्रहण की निरन्तर साधना से अनंत शुभ में पहुंचकर शुभ और अशुभ के द्वन्द्व से अतीत हो जाना तथा "स्वतः स्फूर्त सत्य-ज्ञान, सत्य-इच्छा, सत्य-संप्रतीति, सत्य-गति-प्रवृत्ति और सत्य-कर्म को अपनी प्रकृति का समग्र धर्म" बनाने के लिए सनातन ऋत-चित् को अधिकृत करना आदि दुरूहतम प्रक्रियाओं को सुगमतम रूप में प्रस्तुत करने की उनकी क्षमता उतनी ही वंदनीय है जितना यह सन्देश। मन व बुद्धि की उपयोगिता और सीमाएं वैज्ञानिक रीति से प्रतिष्ठित करने वाले उनके तत्त्वज्ञान में अत्यंत महत्त्व-पूर्ण है—चिति के ब्रह्मशक्तित्व का उद्घाटन तथा उसके विभिन्न मात्रा में

आवरणों से जड़ से लेकर उच्चतर चेतना के स्तरों तक का विकास—स्पष्टीकरण अर्थात पदार्थ व चेतना का एक ही सत्ता के दो छोरों के रूप में वर्णन। उनके अतिरिक्त भी कुछ विद्वानों ने समन्वय करने का प्रयास किया है (जैसे अरस्तू, लाइवनित्ज और हेगेल ने दार्शनिक दृष्टि से भौतिकवाद और चेतनावाद के समन्वय का) किंतु श्री अरविन्द का वैशिष्ट्य यही है और उनकी अपनी दृष्टि वौद्धिक मात्र नहीं है अपितु गंभीरतर आध्यात्मिक चेतना के आधार पर साक्षात्कृत प्रज्ञा से आलोकित।

अपने जीवन-दर्शन को जीना, यह उनके जीवन से मिलने वाला एक खुला किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संदेश है। आई० सी० एस० के कगार पर पहुंचकर भी अपने जीवन-दर्शन से उसका ताल-मेल वैठता न दीखने के कारण उस सुनहली नौकरी का निर्मोहपूर्वक परित्याग कर देने वाले श्री अरविन्द अपने जीवन-दर्शन को जीने के लिए ही क्रांतिकारी वने थे और जहां लोकमान्य तिलक 'स्वराज्य' का उद्घोष ही कर सके थे और गोपालकृष्ण गोखले "केवल पागलखाने के सामने खड़ा व्यक्ति ही स्वतंत्रता की वात सोच या कह सकता है।···व्रिटिश शासन का कोई विकल्प नहीं है, न अभी, न भविष्य में काफी समय तक" कहकर अपनी दूरदर्शिता की मात्रा प्रकट कर रहे थे, उस समय श्री अरविन्द ने देश के पूर्ण स्वातंत्र्य का डंके की चोट पर उद्घोष भी अपने जीवन-दर्शन को जीने के लिए ही किया था। अपनी प्रिय पत्नी मृणालिनी देवी को लिखे गए ३० अगस्त १९०५ के उनके प्रसिद्ध पत्र में जिन तीन पागलपनों अर्थात धुनों का उन्होंने उल्लेख किया है, वे भी जीवन-दर्शन को व्यवहार में उतारने की उनकी एकान्त निष्ठा की ही परिचायक हैं। केवल वौद्धिकतावादी वने रहने, ऊंचे आदर्शों को वाणी या लेखनी तक ही सीमित रखने, सिद्धांतों पर सिद्धांतों को प्रतिष्ठापित करते जाते, किन्तु व्यवहार में इंच भर भी न वदलने वाले वुद्धि-विलासियों का वर्तमान विश्व में वाहुल्य तथा आधुनिकतावादियों का कोरा दंभ देखकर यह सहज ही लगता है कि वौद्धिक जगत को उनका यह संदेश नितान्त सार्थक है—"विचारक वनो पर साथ ही करने वाले भी वनो", ठीक वैसे ही जैसे पूजापाठ में लगे रहने वालों तथा सक्रिय जीवन से पलायन करने वालों को उनका यह संदेश—"आत्मा वनो पर साथ ही मनुष्य भी वनो। परमेश्वर के सेवक वनो पर साथ ही प्रकृति के स्वामी वनो।" आत्मा, दृष्टि, संकल्प और क्रिया में सत्य की वैदिक शिक्षा उनके संदेश के अंतर्गत भी आती है क्योंकि उनका जीवन-दर्शन सत्य की उपासना का ही परिणाम है। वे मात्र इस कथन से संतुष्ट नहीं हो सके थे कि ईश्वर परमसत्य है और हिंदू धर्म की शिक्षाएं ईश्वर की प्राप्ति कराने में समर्थ हैं। वे इस सत्य की स्वयं परीक्षा करने के लिए सिर पर कफन वांधकर निकले और अंत में जव उन्होंने उसकी पुष्टि कर ली तव भी वे आगे ही वढ़ते चले गए और प्राचीन ऋषियों ने

किन्हीं कारणों से जिस स्तर के आगे का वर्णन नहीं किया है उसके आगे तक भी वे पहुंचे और पथ पर चलते-चलते स्वयं राजपथ बन जाने वाले उत्कृष्ट पथिक सिद्ध हुए। आज भी आवश्यकता है कि अनुभूत सत्य ही जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा पाए नहीं तो धर्म कोरा 'मत' या 'सम्प्रदाय' रह जाएगा अथवा 'सिद्धांत' या वाग्विलास मात्र। इसी के लिए उनका पूर्ण योग का मार्ग 'क्षुरस्य धारा-पथ' होते हुए भी अनेकानेक साधकों का प्रिय बना है। उनका दर्शन, योग से युक्त है और योग, दर्शन से। यहां सिद्धांत और व्यवहार, तत्त्वज्ञान और साधना परस्पर पूरक हैं, निरपेक्ष नहीं। ऐसा योगयुक्त सर्वांगीण जीवन-दर्शन ही आज विश्व की आवश्यकता है।

श्री अरविन्द ने इतिहास के स्वरूप, मानव-एकता का भविष्य और राष्ट्रीयता की यथार्थ धारणा के विषय में अमूल्य मार्गदर्शन किया है। इतिहास की अर्थपरक व्याख्या करने वाले तथा मानव-एकता के साम्यवादी-समाजवादी चित्र को खींचने वाले मार्क्स सदृश विचारकों से विश्व अत्यन्त प्रभावित हुआ है। कम्युनिज़्म के राजनीतिक उत्थान के साथ ही मार्क्स की सभी मान्यताओं के प्रति श्रद्धा का उमड़ना और कम्युनिज़्म के अन्तर्राष्ट्रीय आंदोलन के शिथिल पड़ने और बिखरने के साथ मार्क्स की सभी मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगने के कारण अभी यह कहना संभव नहीं है कि मार्क्स का मूल चिंतन अपनी क्या छाप मानव-इतिहास में छोड़ेगा। तथापि, यह स्पष्ट है कि वह सफल नहीं हो सका है और एकांगी जीवन-दर्शन से इसकी आशा भी नहीं करनी चाहिए। श्री अरविन्द का चिंतन सर्वांगीण होने से वे अर्थ की उपेक्षा नहीं करते किन्तु उसी को ही सब कुछ स्वीकार भी नहीं करते। वे पूंजीवाद के आलोचक हैं और कम्युनिज़्म के सैद्धांतिक और व्यवहार में दिखाई पड़ने वाले रूप के भी। धन को एक विश्वजनीन शक्ति का स्थूल चिह्न मानते हुए वे 'दरिद्रता और अपरिग्रह का होना ही आध्यात्मिक स्थिति' मानने की भूल के प्रति सावधान करते हैं। उनके अनुसार "धनराशि और उससे प्राप्त होने वाले साधनों और पदार्थों से न तो वैरागियों की तरह भागना चाहिए और न इनकी कोई राजसी आसक्ति या इनके भोग में पड़े रहने की दासत्व-वृत्ति ही पोसनी चाहिए। धन को केवल यह समझो कि यह एक शक्ति है जिसे माता की सेवा के लिए जीतकर लौटा लाना और उन्हीं की सेवा में अर्पण करना है। सारा धन भगवान का है और यह जिन लोगों के हाथ में है वे उसके रक्षक हैं, मालिक नहीं।··· कोई मनुष्य धनी है केवल इसीलिए उसके सामने सिर नीचा मत करो। उसके आडम्बर, शक्ति या प्रभाव के वशीभूत मत हो।" इस दृष्टिकोण से अर्थ भी एक भागवती शक्ति मात्र है, परम सत्ता के विश्व रूप की सेवा का एक उपकरण मात्र। और, वह भगवती शक्ति ही इस विश्व के रूप में लीला कर रही है। इतिहास की ऊपर से प्रयोजनहीन और आपाततः विरोधी घटनाएं उसी भगवती के द्वारा

संचालित हैं। विश्व है परमतत्त्व कालपुरुष की शक्तियों का खेल और विश्व-इतिहास है सप्रयोजन। आत्मा तथा मानवता के दिव्यत्व का निरंतर अधिकाधिक उद्‌घाटन ही ऐतिहासिक विकासक्रम का लक्ष्य है। 'अतिमानस' का अवतरण भी उसी के अंतर्गत होगा।

मानवता के विकास में लोकतंत्र के साथ ही समाजवाद को एक पग मानते हुए भी उसे अंतिम मंजिल स्वीकार नहीं करते क्योंकि वह सर्वशक्तिमान निरंकुश राज्य का पोषक होने से मानव का विकास अवरुद्ध करने को वाध्य है। न्यूनतम सामाजिक तथा आर्थिक सुविधाएं प्रदान करने की घोषणा के कारण समाजवाद सराहनीय है तो राज्य के प्रति व्यक्ति के पूर्ण समर्पण तथा स्वतन्त्र कार्यों को छोड़कर संगठित सामूहिक सक्रियता की अनिवार्यता तथा उसे मानव प्रगति का सर्वोत्तम साधन घोषित करने की वात समाजवाद का दंभ मात्र हैं। राज्य का सर्वोत्तम उपयोग यही है कि व्यक्ति-व्यक्ति के सहयोगात्मक कार्य के लिए वह संभव सुविधाएं दे और वाधाएं दूर करे तथा सभी को समान अवसर दे। "यहां तक तो आधुनिक समाजवाद का लक्ष्य ठीक और अच्छा है किन्तु मानव विकास के स्वातंत्र्य में उसका अनावश्यक हस्तक्षेप हानिकारक है अथवा हो सकता है।"

अरविन्द का संदेश है पूंजीवाद-समाजवाद-साम्यवाद आदि की अधकचरी पद्धतियों में समय नष्ट न करते हुए आध्यात्मीकृत समाज का निर्माण कर विश्व को शत-शत समस्याओं से मुक्त करना। वे केवल मानवतावाद या मानव-सेवावाद की दुर्वलता से सावधान करते हैं क्योंकि अपूर्ण मानवों के द्वारा पूर्ण समाज की स्थापना असंभव है। नैतिकतावाद से भी अंतिम समाधान नहीं मिल सकता क्योंकि देश-काल-सापेक्ष नैतिकता स्वयं ही परम शुभ को व्यक्त करने में असमर्थ है। यही नहीं, मनुष्य की आध्यात्मिकता के परिचायक धर्मसम्प्रदाय भी मानव-एकता में पंथमूलक कट्टरता के कारण एक वाधा वनने को वाध्य हैं। अतः आर्थिक क्षेत्र में कुछ फेरवदल, नैतिकता पर कुछ विचार-विमर्श, मानवतावाद की किसी आंधी या किसी नये सम्प्रदाय की स्थापना से मानव-एकता की स्वप्न-पूर्ति असंभव है। एकात्म मानववाद के जिस सूत्र को पण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने अपनी व्याख्या का विषय वनाकर महत्त्व प्रदान किया है, अरविन्द उसी सूत्र के प्रथम उद्‌घोषक हैं। श्री अरविन्द के अनुसार "सच्चा समाधान केवल तभी मिल सकता है जव अपने आध्यात्मिक विकास के द्वारा हम समस्त जीवों के साथ एकरूप हो जाएं, उन्हें अपने आत्मा का अंश जानें, उनके साथ इस प्रकार व्यवहार करें मानो वे हमारे ही दूसरे आत्मा हैं।"

आध्यात्मीकृत समाज में ही उस 'अतिमानस' का अवतरण हो सकता है जो सर्वज्ञानसम्पन्न है तथा विश्व का सृष्टा व ज्ञाता है तथा जिसके द्वारा मनुष्य 'अतिमानव' में विकसित होकर आज के मानव से इतना भिन्न प्रतीत होने लगेगा

जितना आज वह पशुओं से भिन्न प्रतीत होता है।

श्री अरविन्द ने मानव-एकता के व्यावहारिक स्वरूप का वर्णन करते हुए विश्व-सरकार की स्थापना पर भी विचार प्रकट किए हैं और उनका १५ अगस्त १९४७ को प्रसारित सन्देश भी 'विश्व-एकता' का मंत्र देता है। उन्हीं के शब्दों में—"मेरा तीसरा स्वप्न था विश्व-एकता, जो सारी मानवता के लिए एक अधिक उपयुक्त, अधिक उज्ज्वल और अधिक श्रेष्ठ जीवन का आधार बने। संसार का यह एकीकरण हो रहा है। एक अधूरा प्रारम्भ हो चुका है किन्तु वह भयंकर कठिनाइयों से जूझ रहा है। परंतु गतिशीलता है और वह निस्संदेह तीव्र होगी व विजय पाएगी।··· एकीकरण सबकी भलाई के लिए है और केवल मानवीय दुर्बलता और मूर्खतापूर्ण स्वार्थ ही उसे रोक सकता है। लेकिन प्रकृति की आवश्यकता और विधाता के सामने ये भी सदैव बाधक नहीं रह सकते। परंतु एक ऊपरी आधार मात्र पर्याप्त नहीं है, अंतर्राष्ट्रीय भावना व दृष्टिकोण का विकास होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन व संस्थाओं की उत्पत्ति होनी चाहिए और दोहरी या अनेकमुखी नागरिकता, संस्कृतियों के इच्छानुसार विनिमय या स्वेच्छया समन्वय आदि का विकास होना चाहिए। ऐसा होने पर राष्ट्रीयता अपनी पूर्णता को पहुंच सकेगी, अपनी उग्रता खो देगी तथा अपनी आत्मरक्षा और अपने दृष्टिकोण की सम्पूर्णता के लिए इन बातों को घातक नहीं समझेगी। मानव जाति में एकता की एक नई भावना का उदय होगा।" इन शब्दों से यह सहज ही समझा जा सकता है कि विश्व की एकता या मानव-एकता अर्थात् मनुष्य जाति को एक अखण्ड जाति और उसका एक-सा जीवन व समान हित मानने की बात श्री अरविन्द को प्रिय थी किन्तु मात्र 'अंतर्राष्ट्रीयता-वाद' उनकी शिक्षा नहीं है। वे व्यक्ति की आत्मा और वैसे ही राष्ट्र की आत्मा और ठीक वैसे ही विश्व की आत्मा के स्वतंत्र विकास के लिए तथा पारस्परिक टकरावों के बचाने के लिए सही दिशा का निर्देश करने वाले एकात्ममानववादी चिंतक है। उनके अनुसार विश्वराज्य की निर्मिति के पश्चात इस परिवर्तन को स्थायी बनाने के लिए मनुष्य जाति के एक ऐसे धर्म या उसकी समतुल्य भावना की आवश्यकता पड़ेगी जो अपने प्रभाव में देश के राष्ट्रीयतावादी धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक शक्ति-शाली स्पष्ट स्वचेतन और सावभौम हो। मनुष्य अपने सम्पूर्ण चिंतन और जीवन में मनुष्य जाति के अंदर एक ऐसी अभिन्न आत्मा को स्पष्ट रूप में स्वीकार कर ले जिसका प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक राष्ट्र मूर्त रूप और आत्मरूप है। मनुष्य उस अहं भाव के सिद्धांत से ऊपर उठ जाए जो पृथकता के सहारे जीता है, फिर भी व्यक्तित्व नाश नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसके बिना मनुष्य पंगु हो जाएगा। सामान्य जीवन के एक ऐसे सिद्धांत और एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण हो जो वैयक्तिक विविधता को, विभिन्नता में आदान-प्रदान को तथा साहसिक कार्य और विजय की आवश्यकता को मुक्त रूप से कार्य करने दे—ये सब वस्तुएं मनुष्य की आत्मा

को जीवित रखती हैं तथा महान बनाती हैं—और साथ ही इसके फलस्वरूप, मानव समाज के नमनीय और प्रगतिशील रूप में समस्त जटिल जीवन और विकास को व्यक्त करने के पर्याप्त साधन प्राप्त हो जाएं।" विश्व-राज्य की स्थापना के संबंध में 'लीग आफ नेशंस' तथा 'संयुक्त राष्ट्र संघ' के प्रयासों को दुर्बल पाकर भी श्री अरविन्द उनसे भविष्य की महती संभावनाओं का प्रादुर्भाव मानते हैं और आध्यात्मिक विकास-प्राप्त मानवों का संख्या-बाहुल्य होने से पहले इन 'यांत्रिक साधनों' से मानव-एकता-प्राप्ति के प्रयासों की सराहना करते हैं क्योंकि अंततः मानव-विकास-क्रम में विश्व-राज्य की अवस्था आनी ही है।

श्री अरविन्द की विचार-सरणी में राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद का अपना विशेष महत्त्व है। उन्हें ठीक ही 'भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत' कहा गया है। भारत राष्ट्र की आत्मा का जैसा यथार्थ साक्षात्कार उन्होंने किया था, उसके समकक्ष पहुंचने का अवसर मिलना भी सौभाग्य की ही बात है। बंकिमचंद्र के 'वंदे-मातरम्' का मानसिक साक्षात्कार उन्होंने किया था। राष्ट्रात्मा का यह साक्षात्कार राष्ट्र निर्माण के लिए अनिवार्य तत्त्व है। उनकी राष्ट्रकल्पना शुद्ध आध्यात्मिक अधिष्ठान पर प्रतिष्ठित है। 'भवानीमंदिर' योजना के पत्रक में उन्होंने स्पष्ट लिखा था—

"राष्ट्र क्या है? हमारी मातृभूमि क्या है? वह भूखण्ड नहीं है, वाग्विलास नहीं है और न कोरी मानस-कल्पना है। वह महाशक्ति है जो राष्ट्र का निर्माण करने वाली कोटि-कोटि जनता की व्यष्टि की शक्तियों का समष्टि रूप है।...वह तीस कोटि जनता की व्यष्टियों की जीवन्त समष्टि है।"

निस्संदेह राष्ट्र की यह भावपूर्ण एवं भावात्मक कल्पना कोई मानस-कल्पना नहीं है अपितु सत्य के साक्षात्कार की अभिव्यक्ति है। स्वामी रामतीर्थ और अन्य कुछ विचारकों ने भी भारतवर्ष की इस मातृकल्पना का भावुक वर्णन किया है, चित्र-सा खींच दिया है किंतु उसका आध्यात्मिक अधिष्ठान श्री अरविन्द ने जितनी स्पष्टता से वर्णित किया है, उतना किसी ने भी नहीं। भावुक कवि, गम्भीर दार्शनिक, सूक्ष्म विश्लेषक, प्रखर राजनीतिज्ञ, क्रांतिकारियों के मार्गदर्शक तथा मातृभूमि के चरणों में सर्वस्व अर्पण करने के धुनी श्री अरविन्द की देशभक्ति या राष्ट्रीयता भी इसी भव्य राष्ट्र-कल्पना के अनुरूप ही है। 'बम्बई नेशनल यूनियन' के तत्वावधान में आयोजित एक सभा में १९ जनवरी, १९०८ को अभिव्यक्त विचारों में उनकी ये पंक्तियां तत्कालीन भारतीय संदर्भ से युक्त होने पर भी कितनी प्रेरक हैं—

"राष्ट्रीयता क्या है? राष्ट्रीयता केवल एक राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है। राष्ट्रीयता एक धर्म है जो ईश्वर-प्रदत्त है। राष्ट्रीयता एक सिद्धान्त है जिसके अनुसार हमें जीना है। राष्ट्रवादी बनने के लिए, राष्ट्रीयता के इस धर्म को स्वीकार

करने के लिए तुम्हें इसे धार्मिक भावना से करना होगा। स्मरण रखो कि तुम परमात्मा के निमित्त मात्र हो।"

श्री अरविन्द का यह एक अत्यंत प्रिय संदेश है कि राष्ट्रीयता धर्म है, आध्यात्मिक जीवन का एक व्यावहारिक रूप है। विविधता में एकता देखने वाली भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त व्यक्ति ही सच्चा राष्ट्रवादी हो सकता है। यह दृष्टि जीवन में एक स्थान पर स्पर्श करने पर अन्य स्थानों को भी स्पर्श करके सम्पूर्ण जीवन रूपान्तरित करती ही है। ईश्वर से उद्भूत राष्ट्रवाद की महिमा-गरिमा के प्रतिपादन में श्री अरविन्द अप्रतिम हैं। 'वन्देमातरम्' के एक अंक (१९ अप्रैल १९०८) में श्री अरविन्द के ये शब्द अत्यंत प्रेरणादायक हैं—

"राष्ट्रवाद राष्ट्र में निहित दैवी एकता का साक्षात्कार करने की उत्कट अभिलाषा है। इस एकता के अंतर्गत राष्ट्र के सभी अवयवभूत व्यक्ति वास्तव में तथा मूलतः एक और समान है—अपने राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक कार्यों में वे कितने ही भिन्न तथा असमान क्यों न प्रतीत होते हों।"

इसी लेख में भारतीय राष्ट्रवाद का योरोपीय राष्ट्रवाद से अंतर स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा था—

"राष्ट्रवाद का जो आदर्श भारत विश्व के समक्ष रखने वाला है उसके अंतर्गत व्यक्ति तथा व्यक्ति, जाति तथा जाति और वर्ग तथा वर्ग के बीच तात्त्विक समानता होगी। जैसा कि तिलक ने कहा है, वे सब भिन्न होते हुए भी समान और राष्ट्र में साक्षात्कृत विराट् पुरुष के अंग होंगे।"

राष्ट्रभक्ति का आधार है मातृभूमि के कण-कण से प्रेम। श्री अरविन्द ने भगवती दुर्गा के रूप में भारतमाता का दर्शन करने की प्रेरणा बंकिमचंद्र के 'वंदेमातरम्' से ली अवश्य किंतु इतनी मौलिक व्याख्या के साथ प्रस्तुत की कि श्री गुरुजी (श्रीमाधव सदाशिव गोलवलकर) का यह कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है—
"यह भूमि जिसे महायोगी अरविन्द ने विश्व की दिव्य जननी के रूप में जीवन्त आविष्करण कर प्रत्यक्ष किया।—जगन्माता ! आदिशक्ति ! महामाया ! महा-दुर्गा !···"

श्री अरविन्द के अनुसार सच्चा देशप्रेम जागेगा ही तब "जब मातृभूमि अन्तः-चक्षुओं के लिए भूखण्ड अथवा जनसमूह मात्र न रहेगी, जब वह उस महासुन्दरी महामाया, महामातृ शक्ति के मनोहारी और हृदयस्पर्शी रूप में ही प्रकट होगी, तभी माता और उसकी पूजा के सर्वग्राही भावातिरेक में तुच्छ भय और हीन आशाएं तिरोहित होंगी···।" देश-प्रेम का, राष्ट्र-प्रेम का सात्विक और प्रेरक स्वरूप श्री अरविन्द के शब्दों में ही इस प्रकार अंकित है—

"राजनीति में प्रेम का स्थान तो है परन्तु ऐसे प्रेम का जो अपने देश के लिए हो, अपने देशवासियों के लिए हो, अपनी जाति के गौरव, उत्कर्ष और आनन्द के

लिए हो, अपने देशवासियों के हितार्थ आत्माहुति के सुख के लिए हो, उनके कष्टों के निवारण से प्राप्त हर्ष के लिए हो, अपने देश और उसकी स्वतन्त्रता के लिए रक्तदान के आनन्द के लिए हो, मरने के बाद पूर्वजों से मिलने वाले सुख के लिए हो। मातृभूमि के रजकण के स्पर्श, भारत के सागरों से आने वाली वायु के झकोरों, भारत के पर्वतों से निकलने वाली नदियां, भारतीय भाषा, संगीत और काव्य का श्रवण, भारत की जीवन-यापन पद्धतियों, वेश-विन्यासों, आचार-विचारों और स्वभाव-प्रवृत्तियों आदि से मिलने वाले आनन्द की लगभग भौतिक अनुभूति आदि ही उस प्रेम-वृक्ष का मूल है। अपने अतीत का अभिमान, वर्तमान की वेदना और भविष्य की तीव्र कामना उसके स्कन्ध और शाखा-प्रशाखाएं हैं। आत्मबलि, आत्म-विस्मृति और देश के लिए अपार कष्ट-सहिष्णुता उसके फल हैं। मातृभूमि में ही पुण्य देवभूमि की प्रतीति, मातृरूप का दर्शन, उसी का निरन्तर ध्यान, सतत चिंतन और चिरन्तन आराधन उसका जीवनरस है।"

राष्ट्रभक्ति का यह महामंत्र वर्तमान भारतीय जनसमाज के लिए पुनः सुनाए जाने की आवश्यकता आ पड़ी है। चारों ओर शत्रुओं से आवृत्त तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विस्फोटावस्था के भय से सतर्क भारतराष्ट्र के प्रत्येक राष्ट्रीय को अपने महान राष्ट्र के प्रति कर्तव्यरत करने के लिए राष्ट्रीयता की जो भावात्मक कल्पना श्री अरविन्द ने तब दी थी, वह आज भी उतने ही महत्त्व की है।

श्री अरविन्द उत्कृष्ट राष्ट्रभक्त थे। उन्हें यह स्पष्ट था कि भारत राष्ट्र का जीवन-लक्ष्य क्या है। परमात्मा की विराट योजना में उसका दायित्व बताते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है, वर्तमान के लिए और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि स्वतन्त्र भारत का कर्तव्य है कि वह उन लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा में गतिशील हो जिनके निमित्त उसकी स्वतन्त्रता का यज्ञ रचाया गया था। श्री अरविन्द ने बार-बार कहा है कि भारत की मुक्ति वस्तुतः मानव मात्र के आध्यात्मिक नेतृत्व के लिए ही अभीष्ट है। प्रसिद्ध उत्तरपाड़ा-भाषण में उन्होंने अत्यन्त ओजस्वी स्वर में कहा था—

"सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रवाद है। यह हिन्दू राष्ट्र सनातन धर्म के साथ जन्मा था, इसके साथ ही गतिशील व वृद्धिशील है। जब सनातन धर्म की अवनति होती है, राष्ट्र अवनत होता है और यदि सनातन धर्म मिट सकता तो यह भी साथ ही मिट जाता। सनातन धर्म ही राष्ट्रवाद है। यही सन्देश है जो मुझे देना था।" उनके अनुसार हिन्दू राष्ट्र अर्थात भारत राष्ट्र का उत्थान-पतन हिन्दू धर्म अर्थात सनातन धर्म के उत्थान-पतन से बंधा हुआ है और जैसा उन्होंने १५ अगस्त १९४७ को अपने संदेश में कहा था—संसार को भारत की आध्यात्मिक देन का उनका स्वप्न फलीभूत होना आरम्भ हो चुका है और यूरोप व एशिया में आध्यात्मिकता का अधिकाधिक प्रवेश हो रहा है। उनके अनुसार 'अतिमानस' के

अवतरण में भी "कार्यक्षेत्र विश्वव्यापी होना चाहिए, किन्तु केन्द्रीय गति भारत में ही जन्म लेगी।"

श्री अरविन्द का सन्देश निरन्तर प्रगति का सन्देश है। वे अतीत से बंधे हुए प्रगति का स्वप्न नहीं देखते और न अतीत का तिरस्कार करके। उनका सन्देश है—"भूतकाल के सांचों को तोड़ डालो परन्तु उनकी स्वाभाविक शक्ति और मूल भावना को सुरक्षित रखो अन्यथा तुम्हारा कोई भविष्य नहीं रह जाएगा।" उनके अनुसार "राष्ट्रीय होने का अभिप्राय एक स्थान पर रुक जाना नहीं है अपितु भूत की संजीवनी शक्ति को ग्रहण करके उसे वर्तमान जीवन की धारा में डाल देना ही वास्तव में पुनरुद्धार और नवनिर्माण का सबसे शक्तिशाली उपाय है।"

श्री अरविन्द का विचारदर्शन किसी की मत, सम्प्रदाय या दल आदि में सीमित न रहकर परमसत्य से एकरूप होने का सन्देश देता है। उनके अनुसार, "कोई मत न तो सत्य होता है, न मिथ्या, बल्कि केवल जीवन के लिए लाभदायक या हानिकारक होता है क्योंकि वह काल की सृष्टि होता है और काल के साथ ही वह अपना प्रभाव और मूल्य खो देता है। तू मत-मतांतर से ऊपर उठ जा और फिर चिरस्थायी प्रज्ञा की खोज कर।" 'सावित्री' महाकाव्य में इसी सूत्र को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

"सत्य विशालतर है, अपने रूपों से वृहत्तर,
उन्होंने उसकी सहस्रों मूर्तियां बनाई हैं,
और उसे उन पूज्य मूर्तियों के पीछे छिपा दिया है,
किंतु वह तो स्वरूपस्थ और अनंत है।"

श्री अरविन्द ने भारतीय मस्तिष्क की शक्ति व प्रकृति को विदेशी भाषा की दासता से मुक्त करने के लिए अंग्रेज़ी में शिक्षा देने का सदैव विरोध किया था। स्वयं ब्रिटेन के अंग्रेज़ी वातावरण में चौदह वर्षों तक रहने के कारण स्वभाषा का अभ्यास न होने से वे अंग्रेज़ी का प्रयोग भाषण-लेखादि में करते थे, किंतु इसके लिए उन्होंने सदैव लज्जा ही अनुभव की, अभिव्यक्त भी की। वे बंगला भाषा सीख भी गए थे और थोड़ा-बहुत उसमें पढ़ने-लिखने भी लगे थे। उनका यह स्वभाषा-प्रेम उनकी वृहत्तर स्वदेशी-भावना का ही अंग था। स्वदेशी वस्त्र, स्वदेशी शिक्षा, स्वभाषा, स्वधर्म आदि पर उनका आग्रह आज भी भारतीय राष्ट्र को महत्त्वपूर्ण सन्देश देता है। भारतीय युवकों से, विशेषतः विद्यार्थियों से उनकी यही मांग थी कि वे राष्ट्र-जीवन के लिए स्वयं को समर्पित करने के लिए पूर्ण सक्षम बनें। २२ अगस्त १९०७ को नेशनल कालिज, कलकत्ता के प्राचार्य-पद को त्यागते हुए अपने प्रिय विद्यार्थियों की प्रार्थना पर कहे गए मार्गदर्शक शब्दों में उनका हृदय बोल उठा है। ये शब्द राष्ट्र के नाम उनका शाश्वत सन्देश हैं—

"मैं कामना करता हूं कि तुममें से कुछ को महान बना हुआ देखूं, महान अपनी

हितपूर्ति के लिए नहीं, अपने अहंकार की पुष्टि के लिए नहीं, अपितु मातृभूमि के लिए, भारत को महान बनाने के लिए, ताकि वह विश्व के राष्ट्रों में सम्मानसहित अपना मस्तक ऊंचा कर सके जैसा कि प्राचीनकाल में था जब विश्व उससे प्रकाश पाता था। आप में से जो निर्धन व अप्रसिद्ध रह जाएं उनसे भी मैं निर्धनता व अप्रसिद्धि को मातृभूमि के लिए समर्पित करने की बात चाहूंगा।···यदि तुम अध्ययन करो तो उसके लिए अध्ययन करो। उसकी सेवा के लिए अपने मन व आत्मा को प्रशिक्षित करो। जीविका-उपार्जन भी करो तो इसलिए कि उसके लिए जी सको। तुम विदेशों में जाओ तो इसलिए कि वहां से ज्ञान लेकर लौटो, जिससे उसकी सेवा करो। कार्य करो ताकि उसकी समृद्धि हो। कष्ट उठाओ ताकि वह आनन्दित हो सके। इसी एक उपदेश में सब कुछ निहित है।" भारतीय युवक को दिया गया यह प्रेरणाप्रद सन्देश स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है।

श्री अरविन्द का महान जीवन स्वयं एक चैतन्य सन्देश है। उन्होंने ठीक ही कहा था कि उनका जीवन ऊपरी धरातल पर रहा ही नहीं कि लोग उसे देख सकें और अंतिम चौबीस वर्ष तो वे एक भवन में ही रहे। किन्तु, फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि मानव-शरीर में अतिमानसी चेतना को अवतरित करके प्रत्यक्ष दिखाने वाले उस महायोगी ने यह संदेश तो दिया ही है कि परम तत्त्व का साक्षात्कार करने आदि की बातें कोरी पुस्तकीय नहीं हैं तथा उनमें शाश्वत सत्य है किन्तु इसके लिए भारतीय संस्कृति, धर्म व दर्शन के अन्तराल में गहरी डुबकी लगाना एक अनिवार्यता है। पाश्चात्य चकाचौंध में अपने जीवन-मूल्यों को भूलकर परोन्मुख होने वाले भारतीयों को सावधान करते हुए उन्होंने 'कर्मयोगी' में ठीक ही लिखा था—

"भारतीयो, भारत की आध्यात्मिकता, भारत की साधना, 'तपस्या', 'ज्ञान' और 'शक्ति' ही हमें अवश्य स्वतंत्र और महान बनावेगी। परन्तु पूर्व के ये महान भाव अंग्रेज़ी के घटिया पर्यायों 'डिसिप्लिन', 'फिलासफी', 'स्ट्रेंग्थ' से ठीक प्रकट नहीं होते।···"

इस प्रकार श्री अरविन्द का सन्देश जो युगीन भाषा में तथा प्रयोगों से साक्षात्कृत वैदिक संदेश ही है, परिपूर्ण जीवनदर्शन है। और, कर्मयोगी व आनंद-पूर्ण भारत व विश्व का निर्माण करने के लिए उसमें अजस्र प्रेरणाशक्ति तथा अनन्त सामर्थ्य है। जीवन के सभी क्षेत्रों में संसिद्धि प्रदान करने की महान क्षमता उनकी मंत्र-सदृश वाणी में है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

विचार-प्रवाह

भारत-राष्ट्र

राष्ट्र

श्री अरविन्द की राष्ट्र-कल्पना भौतिकवादी राष्ट्र-कल्पना से एकदम भिन्न है। 'भवानी-मन्दिर-योजना' में उनके ये शब्द राष्ट्र के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं—

"राष्ट्र क्या है ? हमारी मातृभूमि क्या है ? वह भूखण्ड नहीं है, वाक्-विलास नहीं है, और न कोरी मन की कल्पना है। वह महाशक्ति है जो राष्ट्र का निर्माण करने वाली कोटि-कोटि जनता की व्यष्टि-शक्तियों का समष्टि रूप है। जैसे पुंजीभूत होने पर एक शक्तिमती भवानी महिषमर्दिनी का उद्भव हुआ था—तेंतीस कोटि देवों की शक्ति। वह शक्ति जिसे भारत के प्रसंग में भवानी भारती कह सकते है, तीस कोटि जनता के व्यक्ति-व्यक्ति की शक्तियों की जीवन्त समष्टि···।"

अपनी पत्नी को लिखे गए एक प्रसिद्ध पत्र में उन्होंने लिखा था—"अन्य लोग स्वदेश को एक जड़ पदार्थ, कुछ मैदान, खेत, वन, पर्वत, नदी···समझते हैं। मैं स्वदेश को मां मानता हूं; उसकी भक्ति करता हूं, पूजा करता हूं।" बाद में श्री नीरदवर्ण नामक उनके प्रसिद्ध शिष्य ने उनसे प्रश्न किया था कि भारत को जड़ पदार्थ के रूप में न देखकर माता के रूप में देखने की उनकी उक्ति वास्तव में सत्य का दर्शन था या केवल काव्यात्मक आदर्श-भक्ति-परक उद्गार। श्री अरविन्द ने उत्तर दिया था—"मैं जड़वादी नहीं हूं। यदि मैंने भारत को केवल एक भौगोलिक क्षेत्र के रूप में देखा होता जिसमें थोड़े बहुत रोचक लोग रहते हैं, तो मैंने अपने मार्ग को छोड़कर उस भूखंड मात्र के लिए इतना कार्य न किया होता। और रही केवल काव्यात्मक आदर्श भक्तिपूर्ण उद्गार की बात—जैसे तुम्हारे शरीर में तुम्हारा मांस, त्वचा, हड्डियां और दूसरी चीजें···तो वास्तविक हैं, किन्तु जिन्हें तुम मन व आत्मा कहते हो उनका स्वयं का कोई अस्तित्व नहीं है, वे तो मात्र किए गये भोजन और ग्रंथियों की क्रिया से निर्मित मनोवैज्ञानिक संस्कार मात्र हैं।" यहां श्री अरविन्द ने व्यंग्यात्मक शैली में यह स्पष्ट किया है कि राष्ट्र का आध्यात्मिक स्वरूप ही वास्तविक स्वरूप है किन्तु भौतिकवादी दृष्टि उसे देख ही नहीं पाती, जैसे मन व आत्मा तक स्थूल दृष्टि जा ही नहीं पाती।

'वन्देमातरम्' (१६ अप्रैल १६०७) में लिखे गए 'ऋषि बंकिमचन्द्र' लेख में उन्होंने लिखा था—"जब मातृभूमि अन्तःचक्षुओं के लिए भूखण्ड अथवा जनसमूह मात्र नहीं दिखायी देती, जब वह महासुन्दरी भगवती व महान मातृशक्ति के मनोहारी और हृदयस्पर्शी रूप में प्रकट होती है, तभी तुच्छ भय और तुच्छ आशाएं माता की और उसकी पूजा के सर्वग्राही भावावेश में लुप्त हो जाती हैं और तभी उस देशभक्त का जन्म होता है जो चमत्कार करता है और पतित राष्ट्र की रक्षा कर लेता है।"

श्री अरविन्द केवल भारत को ही शक्ति के रूप में देखने की बात नहीं करते। वे प्रत्येक राष्ट्र की शक्ति की भी वैसी ही कल्पना प्रस्तुत करते हैं—"भारतमाता पृथ्वी का एक टुकड़ा नहीं है, वह शक्ति है, देवी है। सभी राष्ट्रों की एक-एक ऐसी देवी है जो उनके पृथक व्यक्तित्व को धारण करती और इसका अस्तित्व बनाए रखती है। ऐसी सत्ताएं सर्वथा सत्य होती हैं और जिन व्यक्तियों को वे प्रभावित करती हैं, उनसे भी अधिक स्थायी सत्य होती हैं परन्तु वे होती हैं उच्च स्तर की···विश्व सत्ता का ही अंग और यहां पृथ्वी पर उनका कार्य होता है उन मनुष्यों की चेतना को विशेष रूप प्रदान करना, जिन पर उनका प्रभाव होता है।" हां, यह हो सकता है कि जो व्यक्ति "अपनी निजी चेतना, राष्ट्रीय या जातीय चेतना को ही क्रियावान रूप में देखता है और यह नहीं देखता कि उसकी निजी या राष्ट्रीय या जातीय चेतना को कौन प्रभावित कर रहा है और ढाल रहा है, यह सर्वथा स्वाभाविक है कि वह सोच ले कि सब कुछ उसी का रचा हुआ है और उसके मूल में वैश्व या महत्तर सत्ता जैसी कोई वस्तु है ही नहीं।"

श्री अरविन्द ने बताया है कि हम भारतीयों के लिए अपनी माता, भारतमाता और जगज्जननी तीनों की उपासना में कोई विरोध नहीं है, केवल उत्तरोत्तर क्रम है—जिस प्रकार हम अपनी मां का अतिक्रम कर समस्त देश-बन्धुओं की मां की उपासना करते हैं, उसी तरह देश का अतिक्रम कर जगज्जननी को प्राप्त करना चाहिए। खण्ड-शक्ति का कमोल्लंघन करके पूर्ण शक्ति तक पहुंचना चाहिए। किन्तु जिस प्रकार भारत जननी की उपासना में शारीरिक सम्बन्ध वाली मां का अतिक्रम करते हुए भी उसे भूला नहीं जाता, उसी प्रकार जगज्जननी की उपासना में भी भारत जननी का अतिक्रम करते हुए उसे भी विस्मृत नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे भी काली, वे भी मां हैं।"

राष्ट्र-आत्मा

श्री अरविन्द के अनुसार राष्ट्र भी, व्यक्ति के समान, मूलतः एक आत्मा है, न कि राष्ट्र की एक आत्मा होती है। राष्ट्र-आत्मा सामुदायिक होने के कारण व्यक्ति-आत्मा की अपेक्षा बहुत जटिल होती है। राष्ट्र-आत्मा की अनुभूति बाद में

आती है, पहले वस्तुनिष्ठ राष्ट्र-चेतना ही सामने आती है। "यह वस्तुनिष्ठता राष्ट्र के उस सामान्य भावुकतापूर्ण विचार में बड़ी प्रबलता के साथ प्रकट होती है जो इसके भौगोलिक अर्थात अत्यन्त वाह्य और स्थूल रूप में ही केन्द्रित रहता है अर्थात जिस देश में हम रहते हैं, जो हमारी पितृभूमि है, हमारी जन्मभूमि है, उसके प्रति उत्कट प्रेम।" किंतु वस्तुनिष्ठ राष्ट्र-चेतना से उच्चतर है अनुभवनिष्ठ राष्ट्र-चेतना, जो इस अनुभूति से उत्पन्न होती है कि "भूमि तो देश का एक वाह्य आवरण मात्र है···इसकी सच्ची देह तो वे पुरुष और स्त्रियां हैं जो राष्ट्र-इकाई के निर्माता हैं और यह देह एक निरन्तर परिवर्तनशील परन्तु व्यक्ति की देह के समान सदा वहीं रहने वाली देह है।" पश्चिम में वस्तुनिष्ठ दृष्टि से ही राष्ट्र को देखा गया है और वहां पर "शासक, प्रजा और विचारक समान रूप से अपने-अपने राष्ट्रीय अस्तित्व को केवल सही मानते रहे हैं···एक राजनीतिक स्थिति, अपनी सीमाओं का विस्तार, अपनी आर्थिक समृद्धि तथा विस्तार, अपने नियम, संस्थाएं तथा उनके कार्य।" इसी भ्रांत दृष्टि के कारण राजनीतिक एवं आर्थिक उद्देश्यों व गति-विधियों को ही प्रधानता दी जाती रही है। वास्तव में राष्ट्र-आत्मा ही इन गति-विधियों की पृष्ठभूमि में कार्य करती रही है, किंतु ऊपरी तल पर उसका स्पष्ट अनुभव नहीं किया गया है। राष्ट्र की आत्मपरक सत्ता का "एक अस्पष्ट-सा भाव सामुदायिक मानसिकता के वाह्य तन पर भी सदा काम करता रहा है।" अब आत्मनिष्ठ राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ी है और पराधीन या नवस्वतंत्र राष्ट्रों में आत्मोपलब्धि की प्रवृत्ति अत्यन्त सशक्त रही है।"

राष्ट्रीयता

श्री अरविन्द के अनुसार राष्ट्र की आध्यात्मिक सत्ता है। राष्ट्र-प्रेम स्वा-भाविक रूप में पुत्र का माता के प्रति प्रेम है। और इस कारण राष्ट्रीयता भी केवल किसी भौगोलिक क्षेत्र का, जिसे 'देश' कहते हैं, मोह नहीं है। न यह अर्थ-शास्त्री बुद्धि का गणित है, न सांख्यिकी का निष्कर्ष। अपितु यह तो एक साधना है, एक धर्म है। श्री अरविन्द ने राष्ट्रीयता के धर्म का व्यापक प्रचार किया और उसके दार्शनिक आधार को सुस्पष्ट किया। बम्बई में एक भाषण में उन्होंने कहा था—"राष्ट्रीयता क्या है? राष्ट्रीयता केवल राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है। राष्ट्रीयता एक धर्म है जो ईश्वर का दिया हुआ है। राष्ट्रीयता एक सिद्धान्त है जिसके अनुसार हमें जीना है···यदि तुम्हें राष्ट्रवादी बनना है, यदि तुम राष्ट्रीयता के इस धर्म को स्वीकार करने को तैयार हो, तो तुम्हें यह धार्मिक भाव से करना होगा। तुम्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि तुम परमात्मा के यंत्र मात्र हो।"

एक लेख में श्री अरविन्द ने लिखा था—"राष्ट्र में भागवत एकता के साक्षा-त्कार की भावनापूर्ण आकांक्षा ही राष्ट्रीयता है, एक ऐसी एकता जिसमें अवयवभूत

'वन्देमातरम्' (१६ अप्रैल १९०७) में लिखे गए 'ऋषि वंकिमचन्द्र' लेख में उन्होंने लिखा था—"जव मातृभूमि अन्तःचक्षुओं के लिए भूखण्ड अथवा जनसमूह मात्र नहीं दिखायी देती, जव वह महासुन्दरी भगवती व महान मातृशक्ति के मनोहारी और हृदयस्पर्शी रूप में प्रकट होती है, तभी तुच्छ भय और तुच्छ आशाएं माता की और उसकी पूजा के सर्वग्राही भावावेश में लुप्त हो जाती हैं और तभी उस देशभक्त का जन्म होता है जो चमत्कार करता है और पतित राष्ट्र की रक्षा कर लेता है।"

श्री अरविन्द केवल भारत को ही शक्ति के रूप में देखने की वात नहीं करते। वे प्रत्येक राष्ट्र की शक्ति की भी वैसी ही कल्पना प्रस्तुत करते हैं—"भारतमाता पृथ्वी का एक टुकड़ा नहीं है, वह शक्ति है, देवी है। सभी राष्ट्रों की एक-एक ऐसी देवी है जो उनके पृथक व्यक्तित्व को धारण करती और इसका अस्तित्व वनाए रखती है। ऐसी सत्ताएं सर्वथा सत्य होती हैं और जिन व्यक्तियों को वे प्रभावित करती हैं, उनसे भी अधिक स्थायी सत्य होती हैं परन्तु वे होती हैं उच्च स्तर की···विश्व सत्ता का ही अंग और यहां पृथ्वी पर उनका कार्य होता है उन मनुष्यों की चेतना को विशेष रूप प्रदान करना, जिन पर उनका प्रभाव होता है।" हां, यह हो सकता है कि जो व्यक्ति "अपनी निजी चेतना, राष्ट्रीय या जातीय चेतना को ही क्रियावान रूप में देखता है और यह नहीं देखता कि उसकी निजी या राष्ट्रीय या जातीय चेतना को कौन प्रभावित कर रहा है और ढाल रहा है, यह सर्वथा स्वाभाविक है कि वह सोच ले कि सब कुछ उसी का रचा हुआ है और उसके मूल में वैश्व या महत्तर सत्ता जैसी कोई वस्तु है ही नहीं।"

श्री अरविन्द ने बताया है कि हम भारतीयों के लिए अपनी माता, भारतमाता और जगज्जननी तीनों की उपासना में कोई विरोध नहीं है, केवल उत्तरोत्तर क्रम है—जिस प्रकार हम अपनी मां का अतिक्रम कर समस्त देश-बन्धुओं की मां की उपासना करते हैं, उसी तरह देश का अतिक्रम कर जगज्जननी को प्राप्त करना चाहिए। खण्ड-शक्ति का कमोल्लंघन करके पूर्ण शक्ति तक पहुंचना चाहिए। किन्तु जिस प्रकार भारत जननी की उपासना में शारीरिक सम्वन्ध वाली मां का अतिक्रम करते हुए भी उसे भूला नहीं जाता, उसी प्रकार जगज्जननी की उपासना में भी भारत जननी का अतिक्रम करते हुए उसे भी विस्मृत नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे भी काली, वे भी मां हैं।"

राष्ट्र-आत्मा

श्री अरविन्द के अनुसार राष्ट्र भी, व्यक्ति के समान, मूलतः एक आत्मा है, न कि राष्ट्र की एक आत्मा होती है। राष्ट्र-आत्मा सामुदायिक होने के कारण व्यक्ति-आत्मा की अपेक्षा बहुत जटिल होती है। राष्ट्र-आत्मा की अनुभूति वाद में

आती है, पहले वस्तुनिष्ठ राष्ट्र-चेतना ही सामने आती है। "यह वस्तुनिष्ठता राष्ट्र के उस सामान्य भावुकतापूर्ण विचार में बड़ी प्रबलता के साथ प्रकट होती है जो इसके भौगोलिक अर्थात अत्यन्त वाह्य और स्थूल रूप में ही केन्द्रित रहता है अर्थात जिस देश में हम रहते हैं, जो हमारी पितृभूमि है, हमारी जन्मभूमि है, उसके प्रति उत्कट प्रेम।" किंतु वस्तुनिष्ठ राष्ट्र-चेतना से उच्चतर है अनुभवनिष्ठ राष्ट्र-चेतना, जो इस अनुभूति से उत्पन्न होती है कि "भूमि तो देश का एक वाह्य आवरण मात्र है···इसकी सच्ची देह तो वे पुरुष और स्त्रियां हैं जो राष्ट्र-इकाई के निर्माता हैं और यह देह एक निरन्तर परिवर्तनशील परन्तु व्यक्ति की देह के समान सदा वहीं रहने वाली देह है।" पश्चिम में वस्तुनिष्ठ दृष्टि से ही राष्ट्र को देखा गया है और वहां पर "शासक, प्रजा और विचारक समान रूप से अपने-अपने राष्ट्रीय अस्तित्व को केवल सही मानते रहे हैं···एक राजनीतिक स्थिति, अपनी सीमाओं का विस्तार, अपनी आर्थिक समृद्धि तथा विस्तार, अपने नियम, संस्थाएं तथा उनके कार्य।" इसी भ्रांत दृष्टि के कारण राजनीतिक एवं आर्थिक उद्देश्यों व गति-विधियों को ही प्रधानता दी जाती रही है। वास्तव में राष्ट्र-आत्मा ही इन गति-विधियों की पृष्ठभूमि मे कार्य करती रही है, किंतु ऊपरी तल पर उसका स्पष्ट अनुभव नहीं किया गया है। राष्ट्र की आत्मपरक सत्ता का "एक अस्पष्ट-सा भाव सामुदायिक मानसिकता के वाह्य तन पर भी सदा काम करता रहा है।" अब आत्मनिष्ठ राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ी है और पराधीन या नवस्वतंत्र राष्ट्रों में आत्मोपलब्धि की प्रवृत्ति अत्यन्त सशक्त रही है।"

राष्ट्रीयता

श्री अरविन्द के अनुसार राष्ट्र की आध्यात्मिक सत्ता है। राष्ट्र-प्रेम स्वाभाविक रूप में पुत्र का माता के प्रति प्रेम है। और इस कारण राष्ट्रीयता भी केवल किसी भौगोलिक क्षेत्र का, जिसे 'देश' कहते हैं, मोह नहीं है। न यह अर्थ-शास्त्री बुद्धि का गणित है, न सांख्यिकी का निष्कर्ष। अपितु यह तो एक साधना है, एक धर्म है। श्री अरविन्द ने राष्ट्रीयता के धर्म का व्यापक प्रचार किया और उसके दार्शनिक आधार को सुस्पष्ट किया। बम्बई में एक भाषण में उन्होंने कहा था—"राष्ट्रीयता क्या है? राष्ट्रीयता केवल राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है। राष्ट्रीयता एक धर्म है जो ईश्वर का दिया हुआ है। राष्ट्रीयता एक सिद्धान्त है जिसके अनुसार हमें जीना है···यदि तुम्हें राष्ट्रवादी बनना है, यदि तुम राष्ट्रीयता के इस धर्म को स्वीकार करने को तैयार हो, तो तुम्हें यह धार्मिक भाव से करना होगा। तुम्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि तुम परमात्मा के यंत्र मात्र हो।"

एक लेख में श्री अरविन्द ने लिखा था—"राष्ट्र में भागवत एकता के साक्षात्कार की भावनापूर्ण आकांक्षा ही राष्ट्रीयता है, एक ऐसी एकता जिसमें अवयवभूत

व्यक्ति, चाहे उनके कार्य राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक तत्त्वों के कारण कितने ही विभिन्न और ऊपर से असमान प्रतीत होते हों, वस्तुतः और आधारभूत रूप से एक और समान हैं। भारत जिस राष्ट्रीयता के आदर्श को विश्व के समक्ष रखेगा, उसमें मानव-मानव, जाति-जाति तथा वर्ग-वर्ग के मध्य अनिवार्य समानता होगी।"

राष्ट्रीयता-सम्बन्धी उनके कुछ अन्य विचार भी उल्लेख्य हैं, यथा—"जो लोग देश के उद्धार के लिए प्रतिज्ञावद्ध हो चुके हों, अगर प्राण-समर्पण कर चुके हों, उनके प्रवल मातृभाव, कठोर उद्यम, लोहे के समान दृढ़ता और जलती हुई आग के समान तेज का संचार होना आवश्यक है।" तथा, "देश भर में पूर्ण राष्ट्रीय भाव व्याप्त होने से इन नाना प्रकार के भेदों से परिपूर्ण देश में भी एकता का होना सम्भव है।"

भारतमाता

राष्ट्रीयता का स्वरूप भावात्मक है। स्वदेश की मातृ-मूर्ति से प्रेरित होकर ही सच्ची देशभक्ति हो सकती है। देशभक्ति की यह भावना सभी विभिन्नताओं के, यहां तक कि मत-विभिन्नता के भी, रहते हुए भी अभेद्य देश या राष्ट्र का निर्माण कर सकती है। इसीलिए श्री अरविन्द कहते हैं कि "स्वदेश-प्रेम सात्विक भाव है।" हम भारतीयों के मन में देशप्रेम का सात्विक भाव उदित होने का अर्थ है विविध-वेशरूपिणी, विशाल भारतमाता का साक्षात्कार। श्री अरविन्द के शब्दों में—"जिस दिन हम लोग अखण्डस्वरूपा माता की मूर्ति का दर्शन कर लेंगे, उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर उसके कार्य में जीवन-उत्सर्ग करने के लिए उन्मत्त हो जाएंगे, उस दिन सारी वाधाएं अपने आप ही दूर हो जाएंगी और भारत की एकता, स्वाधीनता तथा उन्नति सहज हो जाएगी।"

श्री अरविन्द भारत को पृथ्वी का खण्डमात्र नहीं मानते, "भारतमाता पृथ्वी का एक टुकड़ा नहीं है, वह 'शक्ति' है, देवी है।" अन्यत्र वे लिखते हैं—"भारत जननी परमात्मा की एक शक्ति, माता, देवी, जगज्जननी काली ही है, केवल रूप-विशेष का अन्तर है।" श्री अरविन्द के अनुसार जन्म देने वाली मानवी माता, भारतमाता और जगज्जननी शक्ति—तीनों की उपासना ही व्यक्ति-कल्याण का ठीक मार्ग है—"जिस प्रकार भारतजननी की उपासना में शारीरिक सम्वन्ध वाली माता का अतिक्रम करते हुए भी उसे भूला नहीं जाता, उसी प्रकार जगज्जननी की उपासना में भी भारत जननी का अतिक्रम करते हुए उसे भी विस्मृत नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह भी काली है, मां है।"

भारत की निंदा करने वाले भारतीय को श्री अरविन्द का उपदेश है—"हमारा देश भगवती माता है। उसकी निंदा मत कर, जव तक तू प्रेम और नम्रता के साथ

वैसा न कर सके।"

राष्ट्रधर्म

श्री अरविन्द को राष्ट्रधर्म की स्पष्ट कल्पना थी। वे राजनीति में कार्य करते हुए भी—उसमें डूबे हुए नहीं थे। उनके लिए राजनीति राष्ट्र-निर्माण का एक अंगमात्र है। राष्ट्र-धर्म के अन्तर्गत ही राजनीति भी वैसी ही उपयोगी है, जैसे विज्ञान या साहित्य या दर्शन। आध्यात्मिक राष्ट्रीयता का प्राणतत्त्व यह राष्ट्रधर्म ही है। 'कर्मयोगी' में प्रकाशित 'कर्मयोगी का आदर्श' शीर्षक लेख में वे स्पष्ट कहते हैं—

"हमने अपने सामने जो काम रखा है, वह यांत्रिक नहीं है अपितु नैतिक और आध्यात्मिक है। हमारा लक्ष्य किसी प्रकार की सरकार को बदलना नहीं है, प्रत्युत एक राष्ट्र का निर्माण करना है। उस कार्य का राजनीति भी एक भाग है परन्तु एक भाग मात्र है। हम अपनी सारी शक्ति राजनीति पर ही नहीं लगाएंगे, न केवल सामाजिक प्रश्नों पर या ब्रह्मविद्या या दर्शन या साहित्य या विज्ञान के विषयों पर। परन्तु इन सबको हम एक ही वस्तु के अन्तर्गत समझते हैं जिसे हम सबसे आवश्यक मानते हैं। वह वस्तु है धर्म, राष्ट्रीय धर्म, जो हमारा विश्वास है और जो सार्वभौम भी है।"

राष्ट्र-प्रेम

श्री अरविन्द की दृष्टि में राष्ट्र मातृशक्ति है, जगज्जननी का एक छोटा-सा रूप है। राष्ट्र-प्रेम भी इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक स्वाभाविक कर्तव्य है—माता के प्रति पुत्र का प्रेम। राजनीति तो राष्ट्र-जीवन के अनेकअंगों में से एक है और उस राजनीति में राष्ट्रप्रेम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—"राजनीति में प्रेम का स्थान तो है, परन्तु ऐसे प्रेम का जो स्वदेश, स्वदेश-बन्धुओं, जाति के गौरव, उत्कर्ष व सुख, अपने देशवासियों के हितार्थ आत्माहुति के दिव्य आनन्द, उनके कष्टों के निवारण से प्राप्त हर्ष, अपने देश व स्वतन्त्रता के लिए बहता रक्त देखने के आनन्द तथा मरणोपरान्त पूर्वजों से मिलने की क्षमता के लिए हो।" अत्यन्त सरस काव्यमयी भाषा में उन्होंने राष्ट्र-प्रेम का वृक्ष से रूपक बांधते हुए लिखा था—"मातृभूमि की मिट्टी के स्पर्श, भारत के सागरों से बहते पवन के झकोरे, भारत के पर्वतों से प्रवाहित नदियां, भारतीय भाषा, संगीत और काव्यों को सुनने, भारत को जीवन के दृश्यों, ध्वनियों, स्वभावों, वेशभूषाओं, विधियों को देखने से प्राप्त होने वाले और प्रायः भौतिक सुख की सी अनुभूति ही उस प्रेम-वृक्ष का मूल है। अपने अतीत का अभिमान, अपने वर्तमान की वेदना तथा भविष्य के लिए तीव्र कामना उसके स्कन्ध तथा शाखाएं हैं। देश

के लिए आत्माहुति तथा अपनी सुध-बुध भूल जाना, महान सेवा तथा अपार कष्ट-सहिष्णुता इस वृक्ष के फल हैं और उसे जीवित बनाए रखने वाला जीवन रस है देश में ईश्वर के मातृत्व का साक्षात्कार, माता का दर्शन तथा माता का ही अनवरत ध्यान, आराधना तथा सेवा।"

बंगाल नेशनल कालेज के प्राचार्य-पद से त्यागपत्र देने के बाद अपने प्रिय विद्यार्थियों के बीच दिए गए भाषण (२२ अगस्त १९०७) में भी उन्होंने राष्ट्रप्रेम की वेदी पर तरुणों का आवाहन किया था। इस समय के उनके ये स्वर्णिम शब्द मननीय हैं—

"प्रत्येक राष्ट्र के इतिहास में ऐसे समय आते हैं जब भाग्य उसके समक्ष एक ही कार्य, एक ही उद्देश्य प्रस्तुत कर देता है जिसके लिए प्रत्येक वस्तु का, चाहे वह स्वयं कितनी ही ऊंची और भली क्यों न हो, बलिदान कर देना पड़ता है। हमारी मातृभूमि के लिए अब ऐसा ही समय आ गया है जब उसकी सेवा से बढ़कर अधिक प्रियतर कुछ नहीं है, जब प्रत्येक कार्य को उसी उद्देश्य से करना होगा। यदि तुम अध्ययन करो तो उसी के लिए अध्ययन करो। अपने शरीर, मन और आत्मा को प्रशिक्षित करो तो भी उसकी सेवा के लिए ही प्रशिक्षित करो। जीविका कमाओ तो उसी के हेतु जीवन बीताने के लिए। सुदूर विदेशों में जाओ तो इसलिए कि वहां से ज्ञान-राशि लेकर आओ, जिससे मातृभूमि की सेवा कर सको। कार्य करो उसे समृद्ध करने के लिए। कष्ट सहन करो उसे आनन्द देने के लिए। इस एक उपदेश में ही सब कुछ समाहित है।"

निस्संदेह यह उपदेश राष्ट्र के लिए शाश्वत संदेश है।

राष्ट्र अमर है

श्री अरविन्द के अनुसार प्रकृति की विश्व-व्यापी योजना में राष्ट्र का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। "राष्ट्र एक ऐसी अटल मनोवैज्ञानिक इकाई है जिसे प्रकृति संसार भर में अत्यन्त विविध रूपों में विकसित करने तथा भौतिक व राजनीतिक एकता के लिए शिक्षित करने में संलग्न रही है।···वर्तमान समय में कोई राष्ट्र वस्तुतः तब तक नहीं मिट सकता जब तक वह अन्दर से निष्प्राण ही न हो जाए। ···राष्ट्र को बलपूर्वक विनष्ट या खंडित करने के सारे आधुनिक प्रयत्न मूर्खतापूर्ण तथा निष्फल हैं क्योंकि ये प्राकृतिक विकास के नियम की अवहेलना करते हैं।··· साम्राज्य अब भी नाशवान राजनीतिक इकाइयां हैं परन्तु राष्ट्र अमर है। और वह ऐसा ही रहेगा जब तक उससे अधिक महान एक ऐसी सजीव इकाई नहीं मिल जाती जिसमें राष्ट्र-भावना एक उच्च आकर्षण के अधीन स्वयं को विलीन कर दे।"

हिन्दू धर्म ही राष्ट्रीयता

श्री अरविन्द ने सदैव ही हिन्दू धर्म को सनातन धर्म के रूप में देखा है। उनके अनुसार यह इस्लाम आदि अन्य धर्मों से विशिष्ट एवं परिपूर्णता के अधिक समीप है; यद्यपि परिपूर्ण नहीं है, क्योंकि अन्य धर्मों में भी सत्य है। इस सनातन धर्म के स्वरूप को कितने कम लोग जानते हैं! "अन्यान्य धर्म मुख्यतः विश्वास पर अवलम्बित हैं, किन्तु सनातन धर्म तो स्वयं ही जीवन है। यह केवल विश्वास करने की वस्तु नहीं है, यह तो अपने जीवन में उतारने की वस्तु है। यही वह धर्म है जिसका लालन-पालन मानव जाति के कल्याण के लिए प्राचीन काल से इस प्रायद्वीप के एकांतवास में होता आ रहा है। इसी धर्म को देने के लिए भारत उठ रहा है।" हिन्दू धर्म का मूल सत्य है, भगवान का दर्शन करना अर्थात भगवान में ही सब कुछ और सब कुछ में ही भगवान का दर्शन करना। श्री अरविन्द को हिन्दू धर्म के इसी मूल सत्य का साक्षात्कार अलीपुर बम अभियोग में कारागार में हुआ था जिसके विषय में उन्होंने 'उत्तरपाड़ा' के प्रसिद्ध भाषण में विस्तार से बताया था। तभी से वे हिन्दू धर्म के सत्य को अपने मन, प्राण और शरीर में अनुभव करने लगे थे। इस हिन्दू धर्म का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसी में श्री अरविन्द ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें कही थीं—

"वह धर्म क्या है जिसे हम सनातन धर्म कहते हैं? वह धर्म हिन्दू धर्म ही है क्योंकि हिन्दू जाति ने ही इसको रखा है, परन्तु यह धर्म किसी एक देश की सीमा से आबद्ध नहीं है। जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं वह वास्तव में सनातन धर्म है, क्योंकि यही वह विश्वव्यापी धर्म है जो दूसरे सभी धर्मों का आलिंगन करता है···। यही एक धर्म ऐसा है जो विज्ञान के आविष्कारों और दर्शनशास्त्र की चिंतन-धाराओं का पूर्वाभास देकर तथा उन्हें अपने में समाविष्ट कर जड़वाद पर विजय प्राप्त कर सकता है। यही एक धर्म ऐसा है जो मानव जाति के हृदय में इस बात को बैठा देता है कि भगवान हमारे कितने निकट हैं और जो अपने अन्दर उन सभी साधनों को समाविष्ट करता है जिनके द्वारा मनुष्य ईश्वर के समीप पहुंच सकता है। यही एक धर्म ऐसा है जो प्रत्येक क्षण, सभी धर्मों के द्वारा स्वीकृत इस सत्य पर बल देता है कि भगवान प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक वस्तु में हैं तथा हम उन्हीं में चलते-फिरते हैं और उन्हीं में हम निवास करते हैं। यही एक धर्म ऐसा है जो इस सबको समझाने और उस पर विश्वास करने में ही हमारा सहायक नहीं होता अपितु अपनी सत्ता के अंग-अंग में इसका अनुभव करने में भी हमारी सहायता करता है। यही एक धर्म ऐसा है जो संसार को यह दिखा देता है कि संसार क्या है, दिखा देता है कि यह वासुदेव की लीला है। यही एक धर्म ऐसा है जो हमें दिखा देता है कि इस लीला में हम अपनी भूमिका को अच्छी-से-अच्छी तरह किस प्रकार

के लिए आत्माहुति तथा अपनी सुध-बुध भूल जाना, महान सेवा तथा अपार कष्ट-सहिष्णुता इस वृक्ष के फल हैं और उसे जीवित बनाए रखने वाला जीवन रस है देश में ईश्वर के मातृत्व का साक्षात्कार, माता का दर्शन तथा माता का ही अनवरत ध्यान, आराधना तथा सेवा।"

बंगाल नेशनल कालेज के प्राचार्य-पद से त्यागपत्र देने के बाद अपने प्रिय विद्यार्थियों के बीच दिए गए भाषण (२२ अगस्त १६०७) में भी उन्होंने राष्ट्रप्रेम की वेदी पर तरुणों का आवाहन किया था। इस समय के उनके ये स्वर्णिम शब्द मननीय हैं—

"प्रत्येक राष्ट्र के इतिहास में ऐसे समय आते हैं जब भाग्य उसके समक्ष एक ही कार्य, एक ही उद्देश्य प्रस्तुत कर देता है जिसके लिए प्रत्येक वस्तु का, चाहे वह स्वयं कितनी ही ऊंची और भली क्यों न हो, बलिदान कर देना पड़ता है। हमारी मातृभूमि के लिए अब ऐसा ही समय आ गया है जब उसकी सेवा से बढ़कर अधिक प्रियतर कुछ नहीं है, जब प्रत्येक कार्य को उसी उद्देश्य से करना होगा। यदि तुम अध्ययन करो तो उसी के लिए अध्ययन करो। अपने शरीर, मन और आत्मा को प्रशिक्षित करो तो भी उसकी सेवा के लिए ही प्रशिक्षित करो। जीविका कमाओ तो उसी के हेतु जीवन बीताने के लिए। सुदूर विदेशों में जाओ तो इसलिए कि वहां से ज्ञान-राशि लेकर आओ, जिससे मातृभूमि की सेवा कर सको। कार्य करो उसे समृद्ध करने के लिए। कष्ट सहन करो उसे आनन्द देने के लिए। इस एक उपदेश में ही सब कुछ समाहित है।"

निस्संदेह यह उपदेश राष्ट्र के लिए शाश्वत संदेश है।

राष्ट्र अमर है

श्री अरविन्द के अनुसार प्रकृति की विश्व-व्यापी योजना में राष्ट्र का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। "राष्ट्र एक ऐसी अटल मनोवैज्ञानिक इकाई है जिसे प्रकृति संसार भर में अत्यन्त विविध रूपों में विकसित करने तथा भौतिक व राजनीतिक एकता के लिए शिक्षित करने में संलग्न रही है।···वर्तमान समय में कोई राष्ट्र वस्तुतः तब तक नहीं मिट सकता जब तक वह अन्दर से निष्प्राण ही न हो जाए। ···राष्ट्र को बलपूर्वक विनष्ट या खंडित करने के सारे आधुनिक प्रयत्न मूर्खतापूर्ण तथा निष्फल हैं क्योंकि ये प्राकृतिक विकास के नियम की अवहेलना करते हैं।··· साम्राज्य अब भी नाशवान राजनीतिक इकाइयां हैं परन्तु राष्ट्र अमर है। और वह ऐसा ही रहेगा जब तक उससे अधिक महान एक ऐसी सजीव इकाई नहीं मिल जाती जिसमें राष्ट्र-भावना एक उच्च आकर्षण के अधीन स्वयं को विलीन कर दे।"

हिन्दू धर्म ही राष्ट्रीयता

श्री अरविन्द ने सदैव ही हिन्दू धर्म को सनातन धर्म के रूप में देखा है। उनके अनुसार यह इस्लाम आदि अन्य धर्मों से विशिष्ट एवं परिपूर्णता के अधिक समीप है; यद्यपि परिपूर्ण नहीं है, क्योंकि अन्य धर्मों में भी सत्य है। इस सनातन धर्म के स्वरूप को कितने कम लोग जानते हैं! "अन्यान्य धर्म मुख्यतः विश्वास पर अवलम्बित हैं, किन्तु सनातन धर्म तो स्वयं ही जीवन है। यह केवल विश्वास करने की वस्तु नहीं है, यह तो अपने जीवन में उतारने की वस्तु है। यही वह धर्म है जिसका लालन-पालन मानव जाति के कल्याण के लिए प्राचीन काल से इस प्रायद्वीप के एकांतवास में होता आ रहा है। इसी धर्म को देने के लिए भारत उठ रहा है।" हिन्दू धर्म का मूल सत्य है, भगवान का दर्शन करना अर्थात भगवान में ही सब कुछ और सब कुछ में ही भगवान का दर्शन करना। श्री अरविन्द को हिन्दू धर्म के इसी मूल सत्य का साक्षात्कार अलीपुर बम अभियोग में कारागार में हुआ था जिसके विषय में उन्होंने 'उत्तरपाड़ा' के प्रसिद्ध भाषण में विस्तार से बताया था। तभी से वे हिन्दू धर्म के सत्य को अपने मन, प्राण और शरीर में अनुभव करने लगे थे। इस हिन्दू धर्म का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसी में श्री अरविन्द ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें कही थीं—

"वह धर्म क्या है जिसे हम सनातन धर्म कहते हैं? वह धर्म हिन्दू धर्म ही है क्योंकि हिन्दू जाति ने ही इसको रखा है, परन्तु यह धर्म किसी एक देश की सीमा से आबद्ध नहीं है। जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं वह वास्तव में सनातन धर्म है, क्योंकि यही वह विश्वव्यापी धर्म है जो दूसरे सभी धर्मों का आलिंगन करता है···। यही एक धर्म ऐसा है जो विज्ञान के आविष्कारों और दर्शनशास्त्र की चिंतन-धाराओं का पूर्वाभास देकर तथा उन्हें अपने में समाविष्ट कर जड़वाद पर विजय प्राप्त कर सकता है। यही एक धर्म ऐसा है जो मानव जाति के हृदय में इस बात को बैठा देता है कि भगवान हमारे कितने निकट हैं और जो अपने अन्दर उन सभी साधनों को समाविष्ट करता है जिनके द्वारा मनुष्य ईश्वर के समीप पहुंच सकता है। यही एक धर्म ऐसा है जो प्रत्येक क्षण, सभी धर्मों के द्वारा स्वीकृत इस सत्य पर बल देता है कि भगवान प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक वस्तु में हैं तथा हम उन्हीं में चलते-फिरते हैं और उन्हीं में हम निवास करते हैं। यही एक धर्म ऐसा है जो इस सबको समझाने और उस पर विश्वास करने में ही हमारा सहायक नहीं होता अपितु अपनी सत्ता के अंग-अंग में इसका अनुभव करने में भी हमारी सहायता करता है। यही एक धर्म ऐसा है जो संसार को यह दिखा देता है कि संसार क्या है, दिखा देता है कि यह वासुदेव की लीला है। यही एक धर्म ऐसा है जो हमें दिखा देता है कि इस लीला में हम अपनी भूमिका को अच्छी-से-अच्छी तरह किस प्रकार

निभा सकते हैं और जो यह दिखाता है कि इसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म नियम क्या हैं, इसके महान से महान विधान क्या है। यही एक धर्म ऐसा है जो जीवन की छोटी-से-छोटी बात को भी धर्म से पृथक नहीं करता, जो यह जानता है कि अमरत्व क्या है और जिसने हममें से इस बात को ही निकाल दिया है कि मृत्यु कोई वास्तविक वस्तु है।"

श्री अरविन्द ने सनातन धर्म और भारतीय राष्ट्रीयता का तादात्म्य स्पष्ट घोषित किया है। भारतीय या हिन्दू राष्ट्र में राष्ट्रीयता ही दूसरे शब्दों में सनातन धर्म है। श्री अरविन्द के उत्तरपाड़ा भाषण में यही बात अन्त में रखी गई थी—"सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रीयता है। यह हिन्दू राष्ट्र सनातन धर्म को लेकर ही जन्मा है, उसी को लेकर यह चलता है और उसी को लेकर यह पनपता है। जब सनातन धर्म की हानि होती है, तभी इस राष्ट्र की भी अवनति होती है और यदि सनातन धर्म का विनाश संभव होता तो सनातन धर्म के साथ-ही-साथ इस राष्ट्र का भी विनाश हो जाता है। सनातन धर्म ही है राष्ट्रीयता।"

सनातन धर्म ही भावी विश्वधर्म

श्री अरविन्द ने 'कर्मयोगी का आदर्श' में लिखा था कि "संसार में जीवन का एक शक्तिशाली नियम है, मानव-विकास का एक बड़ा सिद्धान्त है, आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभव की एक निधि है जिसका संरक्षक, आदर्श स्थापक तथा प्रचारक होना सदा भारतवर्ष की भाग्य-लिपि में लिखा है। यही सनातन धर्म है।" उनके अनुसार इस धर्म को जीवन में चरितार्थ करना परम आवश्यक है और चरितार्थ करने का अर्थ है इसे जीवन के सभी क्षेत्रों में, सभी अंगों में व्याप्त कर देना, सब बातों में उसे प्रमुख स्थान देना—"विदेशी सम्पर्क का दबाव पड़ने से भारत ने उस धर्म के बाह्य रूप को तो नहीं, किन्तु उसके जीवित जागृत वास्तविक रूप को अधिकांशतः खो दिया है। क्योंकि भारत का धर्म यदि जीवन में सजीव रूप से चरितार्थ न किया जाए तो यह किसी काम का नहीं। इसे केवल जीवन में ही नहीं अपितु जीवन के सभी अंगों में चरितार्थ करना होगा। इसकी आत्मा को अपने समाज, अपनी राजनीति, अपने साहित्य, अपने भौतिक विज्ञान, अपने वैयक्तिक चरित्र, प्रवृत्तियों और आकांक्षाओं में प्रविष्ट करना और उनका पुनर्निर्माण करना होगा।" श्री अरविन्द के अनुसार यही कर्मयोग भी है—"इस धर्म के हृदय को समझना, इसे सत्य के रूप में अनुभव में लाना, जिन ऊंचे भावावेशों की ओर यह ऊपर उठाता है, उन्हें अनुभव करना और इसे जीवन द्वारा अभिव्यक्त एवं क्रियान्वित करना—यही हम कर्मयोग का भावार्थ मानते हैं।" इस सनातन धर्म का शास्त्र क्या है, यह बताते हुए श्री अरविन्द ने लिखा था—"इस सनातन धर्म के अनेक धर्मशास्त्र हैं—वेद, वेदान्त, गीता, उपनिषद, दर्शन, पुराण, तंत्र, और

यह बाइबिल और कुरान से भी इनकार नहीं कर सकता है; परन्तु इसका वास्तविक और सबसे अधिक प्रामाणिक धर्मशास्त्र तो उस हृदय में है जिसमें सनातन देव का वास है।"

यह हिंदू धर्म, सनातन धर्म, ही भावी विश्व-धर्म बन सकेगा, यह श्री अरविन्द ने स्पष्ट कर दिया था क्योंकि भावी विश्व-धर्म वह होगा जो विश्व-भर के सभी सम्प्रदायों को और विज्ञान को भी अपना सके और समन्वयात्मक हो, "जो धर्म भौतिक विज्ञान और आस्तिक बुद्धि का, प्राचीन ईश्वरवाद, ईसाइयत, मुहम्मदी मत और बौद्ध धर्म का आलिंगन करता है, परन्तु इनमें से कोई सा भी नहीं है, उसी की ओर विश्व-आत्मा गति कर रही है। हमारा अपना धर्म जो सब धर्मों से अधिक संदेहवादी और सबसे अधिक विश्वासी है...वह विशालतर हिन्दू धर्म, जो कोई एकमतवाद या मतवाद का समन्वय नहीं है, किन्तु जीवन का नियम है, जो कोई सामाजिक ढांचा नहीं है अपितु अतीत और भावी सामाजिक विकास की आत्मा है, जो किसी चीज़ का निराकरण नहीं करता है, परन्तु प्रत्येक चीज़ को परखने और अनुभव करने के लिए आग्रह करता है तथा परखने व अनुभव करने के पश्चात उसे आत्मा के उपयोगार्थ लाने का आग्रह करता है, उस हिन्दू धर्म में हम भावी विश्वधर्म का आधार पाते हैं।

राष्ट्र का उद्देश्य

श्री अरविन्द के अनुसार राष्ट्र महत्त्वपूर्ण तो है किन्तु स्वयं में लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य तो है आत्मविकास। इस बात को न समझ पाने के कारण ही विश्व में राष्ट्रवाद एक खतरा बन गया है और राष्ट्र को मानव-एकता के बाधक के रूप में देखा-समझा जाता है। वस्तुतः राष्ट्र के निर्माण की तीन अवस्थाएं होती हैं। पहली अवस्था है "शिथिलतर किन्तु विवश कर देने वाली समाज-व्यवस्था और सभ्यता का सर्वसामान्य प्रकार" जो राष्ट्र के लिए ढांचे का काम दे सके। दूसरी अवस्था है, "एकता और केन्द्रीय नियंत्रण" लाने वाले कठोर संगठन की जो एकरूपता लाए। तीसरी अवस्था है निर्माण व एकता का अभ्यास हो जाने के पश्चात "स्वतंत्र अन्तः विकास" की। तीसरी अवस्था आना आवश्यक है नहीं तो राष्ट्र जड़ व रूढ़ हो जाएगा और उसकी सजीवता व शक्ति समाप्त हो जाएगी। तीसरी अवस्था आने से राष्ट्र और व्यक्ति का हित-संघर्ष भी नहीं होगा।

किन्तु साथ ही यह महत्त्वपूर्ण बात भी ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि "केवल अपने अस्तित्व के लिए न तो राष्ट्र-इकाई निर्मित ही होती है और न ही वह बनी रहती है। उसका आशय होता है मानव-समुदाय के एक ऐसे बृहत्तर सांचे का निर्माण करना जिसमें समग्र जाति—केवल वर्ग और व्यक्ति नहीं—अपने पूर्ण मानव-विकास की ओर बढ़ सकें।"

राष्ट्रवाद युग-धर्म है

श्री अरविन्द ने राष्ट्र को मानव-विकास-क्रम में एक आवश्यकता के रूप में देखा है। मनुष्य के स्वार्थ को, अपने शरीर और अपनी इच्छाओं तक ही सीमित रहने वाली दृष्टि को अर्थात पशुता को पार करके मनुष्य 'परिवार' तक पहुंचा। परिवार के लिए स्वार्थों का त्याग करना मानवता का विकास ही है। आज इस विकास को प्राप्त अधिकांश मानव मिलते हैं। इसके आगे वर्ग के स्वार्थ के लिए अपने व परिवार के स्वार्थो का वलिदान करने की वात और भी उत्कृष्ट है तथा इससे मनुष्य का सामाजिक जीवन सुविकसित होता है ठीक वैसे ही जैसे पारिवारिक जीवन से सभ्यता का प्रारम्भ होता है। मानवों की एक वड़ी संख्या वर्ग-स्वार्थ के लिए वलिदान के सिद्धान्त को भी व्यवहार में ला चुकी है। वर्ग से वढ़कर मानव राष्ट्र तक पहुंचता है। "राष्ट्र का विकास एक ऐसी प्रगति है जो आधुनिक अवस्था में मानवता के लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य के स्वार्थ को, परिवार के स्वार्थ तथा वर्ग के स्वार्थ को, जिनकी गहरी जड़ें आज तक भी अतीत में जमी हुई हैं, अव विशालतर राष्ट्रीय आत्मा में स्वयं को विलुप्त करना सीखना होगा, जिससे मानव जाति में भगवान का क्रमविकास हो सके। अत: राष्ट्रवाद इस युग का धर्म है और भगवान हमारी सार्वजनीन भारतमाता के रूप में स्वयं को हमारे समक्ष अभिव्यक्त कर रहे हैं।" निस्सन्देह राष्ट्रीय हित के लिए अपने, परिवार के तथा वर्ग के स्वार्थों का वलिदान ही "राष्ट्रीय 'अहं' में आत्मा की पूर्णता-प्राप्ति" का अनिवार्य लक्षण है। अवश्य ही, इससे भी आगे का सोपान होगा सम्पूर्ण मानवता में आत्मा का विस्तार किन्तु अभी वह स्थिति आने में देर है।

राज्य से ऊपर राष्ट्र

श्री अरविन्द राज्य-सिद्धान्त को अपर्याप्त सिद्ध करते हैं। आधुनिक राज्य-सिद्धान्त व्यक्ति से सामूहिक अहम् की पूर्ण अधीनता अर्थात अपने सभी हितों को राज्य के लिए समर्पित करने की मांग करता है। राज्य एक सामूहिक अहम् है और उसका स्वरूप राजनीतिक, सैनिक तथा आर्थिक होता है। यह सामूहिक अहम् कुछ उद्देश्यों व महत्त्वाकांक्षाओं की कल्पना करता है और उसे सारे समुदाय की कल्पना मान लिया जाता है। श्री अरविन्द इन शासक राजनीतिज्ञों का स्वरूप उद्घाटित करते हुए कहते हैं—"ये शासक वर्ग या शासक दल, राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ बुद्धि या उसके सर्वोत्तम उद्देश्यों या उच्चतम प्रेरणाओं के प्रतीक" नहीं होते। संसार भर में कहीं भी राजनीतिज्ञ "जाति की आत्मा या उसकी उच्च आकांक्षाओं का प्रतीक नहीं होता। वह प्राय: अपने चारों ओर की सर्वसामान्य तुच्छता, स्वार्थपरता, अहंवादिता और आत्मप्रवंचना का ही प्रतिनिधि होता है। इनका प्रतिनिधित्व तो

वह भली भांति करता ही है, साथ ही अत्यधिक मानसिक अयोग्यता, नैतिक रूढ़िता, भीरुता, क्षुद्रता तथा पाखंड का प्रतिनिधित्व भी करता है।" वह समस्याओं का समाधान भी महान ढंग से नहीं करता और "उच्च शब्द व उत्तम विचार उसके मुख पर होते हैं, परन्तु वे शीघ्रता से उसके दल की विज्ञापन-सामग्री बन जाते हैं।" ऐसे लोगों द्वारा शासित राज्य से मानव-कल्याण की आशा कैसे की जा सकती है !

किंतु यदि शासन-यंत्र अधिक अच्छा भी होता तब भी राज्य-सिद्धान्त के दावे के अनुसार राज्य अपने आदर्श की प्राप्ति नहीं कर सकता था, क्योंकि "संगठित राज्य न तो राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ बुद्धि है और न ही सामाजिक शक्तियों का कुल जोड़। वह अपने संगठित कार्य-क्षेत्र में से महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्गों की कार्यशक्ति तथा उनके विचारशील मन को बहिष्कृत कर देता है, उन्हें दबाता है या अनुचित रूप से निरुत्साहित करता है।···यह एक सामूहिक अहं-भाव है जो समाज के उच्चतम अहंभाव से बहुत निम्नकोटि का है।" निस्सन्देह "यह सामूहिक अहंभाव बड़ा अवश्य है परंतु श्रेष्ठ नहीं है।" राज्य हमारे विकास का साधन रहे तब तो ठीक है, परन्तु उसका साध्य बनने का दावा मिथ्या व अनर्थकारक है।

राज्यसिद्धान्त का यह दावा भी मिथ्या है कि वह मानव-विकास का सर्वोत्तम साधन है क्योंकि वह अन्ततः "मनुष्य की स्वतंत्रता, प्रेरक शक्ति और वास्तविक उन्नति को" कुचल डालता है। इसका कारण यह है कि "राज्य प्राणिक सत्ता नहीं है; वह एक मशीन है और मशीन की ही भांति कार्य करता है।"

श्री अरविन्द राज्य का नहीं, राष्ट्र का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार, "राष्ट्र एक ऐसी अटल ऐसी मनोवैज्ञानिक इकाई है जिसे प्रकृति संसार भर में अत्यन्त विविध रूपों में विकसित करने तथा भौतिक व राजनीतिक एकता के लिए शिक्षित करने में संलग्न रही है। राजनीतिक एकता आवश्यक वस्तु नहीं है। यह न भी प्राप्त हो तो भी राष्ट्र का अस्तित्व बना रहा है।"

देशभक्ति की प्रेरणा

श्री अरविन्द के अनुसार देशभक्ति की प्रेरणा देश की धन-सम्पत्ति, भूमि की उर्वरता व सुन्दरता आदि न होकर शुद्ध रूप में देश की सत्ता ही होती है—मेरा देश, यह भाव। एक पत्र में उन्होंने प्रसंगवश लिखा था—"देशभक्त अपने देश से केवल तभी प्रेम नहीं करते जब वह समृद्ध, शक्तिशाली, महान होता है और उसके पास उन्हें देने के लिए बहुत-कुछ होता है; अपितु देशप्रेम तभी अत्यन्त प्रचण्ड, प्रगाढ़, पूर्ण निरपेक्ष रहा है जब देश निर्धन, अवनत और दीन था और अपनी सेवा के प्रतिफल के रूप में देने के लिए उसके पास हानि, क्षति, यंत्रणा, क़ैद और मृत्यु के अतिरिक्त कुछ नहीं था।" वे आगे लिखते हैं—"परन्तु यह जानते हुए भी कि वे उसे अपने जीवन में कभी स्वतन्त्र नहीं देख सकेंगे, मनुष्य उसके लिए जीते रहे,

उसकी सेवा करते रहे और उसके लिए मरे हैं—केवल उसके 'निज' के लिए, जो कुछ वह दे सकता था, उसके लिए नहीं।"

भारत व यूरोप में अन्तर

सूक्ष्मदर्शी श्री अरविन्द को यूरोप का भी प्रत्यक्ष अनुभव था और भारत का भी। उन्होंने यूरोप और भारत का क्या अन्तर है, यह स्पष्ट देखा था। एक स्थान पर वे लिखते हैं—"हमारे देश में और यूरोप में मुख्य अन्तर यही है कि हमारा जीवन अन्तर्मुखी है और यूरोप का जीवन वहिर्मुखी।" अन्यत्र उन्होंने लिखा था, "भारत चाहता है सरल विचार, सीधी वात; यूरोप चाहता है गंभीर विचार, गंभीर वात। सामान्य कुली-मज़दूर भी विचार करता है, सब कुछ जानना चाहता है, मोटे तौर पर जानकर भी संतुष्ट नहीं होता, गहराई में जाकर देखना चाहता है।" और वे यूरोप की प्रशंसा करते हुए प्राचीन भारत से उसका सादृश्य दरशाते हैं—"यूरोप को देखो, दो चीजें देखोगे—अनंत विशाल चिंतन का समुद्र और प्रकांड वेगवती शक्ति का खेल। यूरोप की समस्त शक्ति यही है। उसी शक्ति के बल से वह जगत को ग्रस रहा है, हमारे प्राचीन तपस्वियों की तरह जिनके प्रभाव से विश्व के देवता भी भयभीत और वशीभूत थे।"

एक स्थान पर यूरोप में ईसा की ऐतिहासिकता पर चलने वाले विवाद के विपय में अपना मत संकेतित करते हुए वे भारत का उससे अन्तर प्रकट करते हैं—"यूरोप में ईसा की ऐतिहासिकता पर जो वाद-विवाद चलता है, वह अध्यात्मचेता भारतवर्ष के विचार में प्रायः समय का दुरुपयोग ही है।" और इसका कारण वे अन्यत्र इस सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—"पाश्चात्य निवासी शरीर के उपासक हैं और हम लोग आत्मा के। वे लोग नाम और रूप में अनुरक्त हैं और हम लोग नित्य वस्तु पाए विना किसी वस्तु से ही संतुष्ट नहीं हो सकते।"

एक अन्य स्थान पर उन्होंने भारत की कार्यपद्धति से भिन्न यूरोप की कार्य-पद्धति है, यह वताते हुए लिखा था—"यूरोप का मनुष्य यंत्र-सामग्री का बहुत अधिक आदर करता है। वह समाज-सम्बन्धी योजनाओं और शासन करने की पद्धतियों से मानवता का पुनरुद्धार करना चाहता है, वह राष्ट्र-व्यवस्थापिका-परिषद के कानूनों से पृथ्वी पर स्वर्ग का राज्य लाने की आशा रखता है। यंत्र-सामग्री निस्सन्देह वड़े महत्त्व की वस्तु है, परन्तु अन्दर रहने वाली आत्मा या पीछे रहने वाली शक्ति के कार्यवाहक साधन के तौर पर ही।"

क्या भारत विदेशों की नक़ल करे ?

श्री अरविन्द इस वात का दृढ़ता से प्रतिपादन करते हैं कि राष्ट्र का कल्याण राष्ट्रात्मा के स्वधर्म और स्वभाव के अनुसार प्रगति करने में है। यूरोप की नक़ल

करके भारत को महान बनाने का विचार रखने वाले अनेक समकालीन राजनीतिक नेताओं के तर्कों को काटते हुए उन्होंने अपने विचार स्थापित किए थे। 'कर्मयोगी' में उन्होंने लिखा था—"भारतवर्ष ने उन्नीसवीं सदी में राजनीतिक मुक्ति, सामाजिक पुनर्जागृति, धार्मिक दर्शन तथा धार्मिक पुनर्जन्म पाने की आकांक्षा की थी; परन्तु वह असफल रहा क्योंकि उसने पाश्चात्य प्रेरक भावों और विधियों को अपनाया, हमारी जाति-आत्मा की अवहेलना की और सोचा कि यूरोपीय शिक्षा, यूरोपीय यंत्रों, यूरोपीय संगठन-प्रणाली व साज-सामान को अपनाकर हम अपने लिए यूरोप-जैसी समृद्धि, शक्ति और प्रगति को प्राप्त कर लेंगे। हम बीसवीं सदी के भारतवासी अंग्रेजों की नकल करने वाली उन्नीसवीं सदी के उद्देश्यों, आदर्शों और विधियों का परित्याग करते हैं।···ये वस्तुएं भी पर्याप्त हो सकती थीं यदि हमारी भवितव्यता अंतिम रूप में यही होती कि हमें ब्रिटिश साम्राज्य का एक दूरस्थ प्रान्त या यूरोपीय सभ्यता के अधीन उसका एक पुछल्ला बनकर रहना है।···हमारा तो ऐसा विश्वास है कि भारत के भाग्य में यह लिखा है कि वह अपने ही स्वतन्त्र जीवन और सभ्यता का निर्माण करे, संसार का अग्रणी बनकर खड़ा हो और उन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक समस्याओं को हल करे जिनका हल निकालने में यूरोपीय असफल रहा है।"

वे कहते हैं कि भारत को विदेशों से कुछ लेना तो होगा किन्तु दासता के साथ, अनुकरण की वृत्ति के साथ नहीं। उनकी स्पष्ट वाणी थी—"हम भारत राष्ट्र से कहते हैं—यह ईश्वर की ही इच्छा है कि हम भारतीय होकर रहें और यूरोपीय न बनें।···जीवन तथा शक्ति के स्रोतों को अपने अन्दर खोजना होगा। हमारा कार्य है सर्वप्रथम स्वयं को जानना और फिर भारत के सनातन जीवन तथा उसकी प्रकृति के नियम के अनुकूल प्रत्येक वस्तु को ढालना।···हमें पश्चिम से जो कुछ लेना है, उसे हम भारतीय रहते हुए ही लेंगे।"

तरुणों को आह्वान

श्री अरविन्द ने भारतीय तरुणों को बार-बार सचेत किया है कि वे सच्चे 'भारतीय' बनें, यूरोप के अनुगामी नहीं। भारतीय बनने का अर्थ ही है आध्यात्मिक दृष्टि-सम्पन्न बनना—"यदि तुम अपने मनों को यूरोपीय विचारों का दास बना दोगे या जीवन को भौतिक या जड़वादी दृष्टि से देखोगे तो तुम इन आदर्शों को धारण नहीं कर सकोगे और इन्हें सफल करना तुम्हारे लिए और भी कठिन होगा और भौतिक दृष्टि से तुम कुछ नहीं हो, आध्यात्मिक दृष्टि से तुम सब कुछ हो।"

भारतीय बनने के पश्चात् अपने विचारों को जीवन में उतारने के लिए वे तरुणों का आवाहन करते हैं—"इसलिए सबसे पहले भारतीय बन जाओ। अपने पूर्व-पुरुषों की पैतृक सम्पत्ति को फिर से प्राप्त करो। उन्हें केवल बुद्धि या भावना

से ही नहीं अपितु जीवन द्वारा पुनः जीवित कर दो। उन्हें जीवन में लाओ और तुम महान, दृढ़, शक्तिशाली, अजेय तथा निर्भय हो जाओगे। तब तुम्हें न तो जीवन भयभीत कर सकेगा और न मृत्यु।"

वे युवकों को आत्मा में विराजमान माता की पूजा करने का संदेश देते हैं, उस पर श्रद्धा करने का, उसकी सेवा करने का, जीवन्त संदेश देते हैं—"उसमें विश्वास रखो, उसकी सेवा करो। अपनी इच्छाओं को उसकी इच्छा में, अपनी 'मैं' को देश की बड़ी 'मैं' में, अपनी पृथक स्वार्थपरता को मानवता की सेवा में विलीन कर दो।"

अन्यत्र उन्होंने अपने कालिज के विद्यार्थियों का राष्ट्रसेवा के लिए आवाहन करते हुए कहा था—"यदि आप विद्याध्ययन करते हैं तो भारत के लिए विद्याध्ययन करिए, उसकी सेवा के लिए अपने तन, मन और आत्मा को प्रशिक्षित कीजिए। अपनी जीविका कमाइए तो इसलिए कि इसके लिए जी सकें। आप विदेश जाएं तो इस उद्देश्य से कि आप वापस ज्ञान ला सकें जिससे आप उसकी सेवा कर सकें। कार्य करिए उसे समृद्ध करने के लिए। कष्ट उठाइए उसे सुखी करने के लिए। इस एक परामर्श में ही सब कुछ है।"

भारत-विभाजन

श्री अरविन्द ने भारत-विभाजन को कभी उचित नहीं माना। उन्होंने इसे कोई स्थायी व्यवस्था भी स्वीकार नहीं किया। १५ अगस्त १९४७ को अपने प्रसिद्ध सन्देश में उन्होंने कहा था—"भारत स्वतन्त्र हो गया है पर उसने एकता प्राप्त नहीं की है। उसने प्राप्त की है केवल टूटी-फूटी छिन्न-भिन्न स्वतन्त्रता। हिन्दू-मुसलमानों का वही पुराना साम्प्रदायिक विभेद देश के स्थायी राजनीतिक विभाजन के रूप में पक्का हो गया दीखता है। यह आशा की जानी चाहिए कि इस तय किए गए विभाजन को कांग्रेस और राष्ट्र स्थायी निर्णय नहीं मान बैठेंगे, इसे एक सामयिक व्यवस्था से अधिक और कुछ नहीं समझेंगे। यदि यह विभाजन सदा बना रहा, तो भारत बुरी तरह दुर्बल नहीं वरन अपंग भी हो जाएगा। गृह-कलह की सम्भावना निरन्तर बनी रह सकती है; यहां तक कि नये आक्रमण और विदेशी विजय की भी सम्भावना उत्पन्न हो सकती है। अतः देश का विभाजन दूर होना ही चाहिए, जिस किसी तरह क्यों न हो, विभाजन दूर होना ही चाहिए, और वह दूर होकर ही रहेगा।" एक अन्य अवसर पर भी श्री अरविन्द ने स्पष्ट कहा था—"मेरा दृढ़ विश्वास है कि इस राष्ट्र व समाज की नियति है एक महान व अखण्ड भविष्य···स्वतन्त्र व अखण्ड भारत बनकर रहेगा और भगवती माता अपने चारों ओर अपने पुत्रों को अवश्य एकत्रित करेगी और उन्हें राष्ट्र-शक्ति के रूप में एक करेगी ही।"

यहां उल्लेखनीय है कि श्री अरविन्द आश्रम में अखंड भारत का ही चित्र रखा हुआ है, खंडित भारत का नहीं। माताजी से इस विषय में पूछने पर उन्होंने कहा था कि भारत-विभाजन के पश्चात ही वह चित्र वहां रखा गया और वही वास्तविक भारत है जो राजनीति से धूमिल वातावरण की समाप्ति पर पुनः प्रकट होगा ही।

स्वाधीन भारत का लक्ष्य

भारतीय क्रांति के द्वारा राजनीतिक स्वाधीनता का स्वप्न तो वहुत से भारतीय नेताओं ने देखा था, किन्तु उसके पश्चात स्वाधीन भारत का क्या होगा, इस पर वहुत कम नेताओं ने स्पष्ट चिंतन कर पाया था। वस्तुतः श्री अरविन्द की दृष्टि इस विषय में अत्यन्त प्रकाशमय थी। उत्तर-पाड़ा के भाषण में जिस ईश्वरीय संदेश को श्री अरविन्द ने भारत को सुनाया था, उसमें भी इसका स्पष्ट उल्लेख था—"सदा अपनी जाति को यही वाणी सुनाना कि वे सनातन धर्म के लिए ही उठ रहे हैं, वे अपने लिए नहीं प्रकृत संसार के लिए उठ रहे हैं। मैं उन्हें संसार की सेवा के लिए स्वतन्त्रता प्रदान कर रहा हूं। अतएव जब यह कहा जाता है कि भारतवर्ष ऊपर उठेगा तो उसका अर्थ होता है कि सनातन धर्म ऊपर उठेगा।" और यह सनातन धर्म मानव को भगवान का पूर्ण साक्षात्कार कराने वाली दृष्टि है, मनुष्य को दिव्य करने वाली दृष्टि है। श्री अरविन्द ने 'कर्मयोगी' में भी यही स्पष्ट किया था कि इस आध्यात्मिक क्रान्ति को लाने के लिए ही भारत की भौतिक क्रान्ति हो रही है—"हमारा विश्वास है कि योग को मानव-जीवन का आदर्श बनाना ही वह प्रयोजन है जिसके लिए आज भारत का अभ्युदय हो रहा है। योग से ही वह अपनी स्वाधीनता, एकता और महत्ता को अधिगत करने की शक्ति प्राप्त करेगा, योग से ही वह इन्हें सुरक्षित रखने की शक्ति प्राप्त करेगा। ऐसी आध्यात्मिक क्रान्ति को ही हमारी भावी दृष्टि देख रही है, और भौतिक क्रान्ति तो इसकी छाया एवं प्रतिविम्व मात्र है।"

आदर्श की आवश्यकता

श्री अरविन्द निरे कार्य की अपेक्षा आदर्श-प्रेरित कार्य की उपयोगिता अधिक मानते थे। किसी आदर्श के विना भी लोक-हित का कार्य करते रहने की सलाह देने वालों को उन्होंने 'वन्देमातरम्' में एक लेख द्वारा उत्तर दिया था—"हमें आजकल यह सलाह दी जाती है कि आदर्शों पर झगड़ा न करें अपितु हाथों के सबसे अधिक समीप पड़े हुए कामों को पूर्ण करें।···हमारा पथ-प्रदर्शन सामान्य ज्ञान करे न कि कल्पना।···किन्तु आदर्श के विना कार्य तो कुछ भी नहीं है और अपनी प्रेरक शक्ति से पृथक होने पर कर्म तो निष्फल हो जाएगा। सामान्य ज्ञान क्या

है ? सही मार्ग पर चलना या वह कांटों से भरा है इसलिए इसे छोड़ देना ? राष्ट्र का उत्थान कुछ कूटनीतिक राजनीतिज्ञों के द्वारा नहीं हो सकता। सेवा की भावना, कर्म की भावना, कष्ट को सहन करने की भावना जगानी होगी। जीवन के सामान्य उपयोगितावादी ढर्रे में लोग अपने अतिरिक्त किसी की भी सेवा करने की प्रेरणा अनुभव नहीं करते।···सचमुच का प्रेरक शब्द बोलो तो सूखी हड्डियों में प्राण का संचार हो जाएगा। प्रेरक जीवन जीकर दिखाओ और इससे सहस्रों कार्यकर्ता निर्मित हो जाएंगे। इंग्लैण्ड अपनी प्रेरणा शेक्सपियर और मिल्टन, मिल और बेकन, नेलसन और वेलिंगटन के नामों से प्राप्त करता है। वे न तो रोगी के कमरे में गये थे, न उन्होंने चर्चों में परोपकार किए थे···परन्तु उनके नामों ने इंग्लैण्ड में राष्ट्रत्व को संभव कर दिया है, उन्होंने अपने प्रेरक व धारक बल से कार्य और उद्यम का निर्माण कर दिया है।···आदर्शों के बिना कर्म एक झूठा सिद्धान्त है।"

राजनीति

श्री अरविन्द पाश्चात्य राजनीति के रंगढंग से भिन्न भारतीय राजनीति की स्थापना के समर्थक थे। उनके अनुसार, "राजनीति धर्म का अंग है किन्तु उसको आर्यभाव और आर्यधर्म के अनुमोदित उपायों से आचरण करना चाहिए।" यह पूछे जाने पर कि वे भारत की राजनीतिक गतिविधि से पृथक क्यों हो गए ? उन्होंने कहा था—"राजनीति को मैंने क्यों छोड़ दिया है ? क्योंकि हम लोगों की राजनीति भारत की वास्तविक वस्तु नहीं है, विलायती ढंग का अनुकरण-मात्र है।" स्पष्ट दिखाई देता है कि भारतीय राजनीति की भारतीय आधारों पर स्थापना अभी तक भारत में नहीं हो पाई है। और न उसकी कल्पना ही हमारे कर्णधारों को है।

श्रीकृष्ण

श्री अरविन्द ने अपने एक लेख 'श्रीकृष्ण ऐण्ड ऑटोक्रेसी' में श्रीकृष्ण का उदाहरण सामाजिक कार्यकर्ताओं में विनम्रता के गुण की आवश्यकता बताते हुए दिया था। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पीछे श्रीकृष्ण की ही योजना थी परन्तु उन्होंने स्वयं उस अवसर पर क्या कार्य लिया था ?—आगत विद्वानों के चरण धोने का। "मानवता के लिए सभी महान कार्य करने वालों में जिस गुण की आवश्यकता है, उसकी शिक्षा देने वाला इससे अधिक सुन्दर पाठ विश्व के इतिहास में कहां मिलेगा ?" इस लेख के अन्त में उन्होंने लिखा था कि श्रीकृष्ण स्वेच्छाचारी नहीं थे, उन्होंने जो कुछ किया, राष्ट्र को महान बनाने के लिए किया था, अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए नहीं। और "जो राष्ट्र श्रीकृष्ण को अपना आदर्श पुरुष तथा

आदर्श कर्मवीर मानता है, वह किसी भी रूप में निरंकुशता को स्वीकार नहीं कर सकता।"

श्री अरविन्द श्रीकृष्ण को अतिमानसिक प्रकाश नहीं मानते, अधिमानसिक मानते हैं। उनके अनुसार, "कृष्ण आनन्दमय हैं, वे अधिमानस के द्वारा विकासक्रम में सहायता पहुंचाते हैं और इसे आनन्द की ओर ले जाते हैं।"

श्री अरविन्द श्रीकृष्ण के महान भक्त रहे थे। उन्होंने गीतातत्त्व का अभ्यास किया था और यह बात अन्य है कि वे गीतोक्त मार्ग का भी अतिक्रमण कर गए। अन्त तक उनमें श्रीकृष्ण के प्रति असीम प्रेम था। एक शिष्य ने यह चाहा था कि अरविन्द-मत और कृष्ण-मत में कौन अधिक श्रेष्ठ है, इस विषय पर श्री अरविन्द के विचार जाने। किन्तु दोनों में विरोध नहीं है, यह श्री अरविन्द ने स्पष्ट कर दिया था और उत्तर में यह भी लिखा था—"और फिर किस कृष्ण को मैं चुनौती दूं—गीता के कृष्ण को जो विश्वातीत भगवान, परमात्मा, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, विश्वदेवता, जगत् के स्वामी, सर्वमय वासुदेव, प्राणिमात्र के हृदय में विराजमान अन्तर्यामी हैं अथवा उन कृष्ण भगवान को जो वृन्दावन, द्वारका और कुरुक्षेत्र में साकार रूप में अवतरित थे तथा मेरे योग के मार्गदर्शक थे और जिनके साथ मैंने एकात्मता प्राप्त की थी?"

एक स्थान पर ईसा और कृष्ण की तुलना में ईसा को अधिक श्रेष्ठ बताए जाने पर उन्होंने कहा था कि "दोनों की स्थिति दो भिन्न लोकों में है" और तुलना अनावश्यक है, अनुपयोगी व अनुचित है। वे ईसा को महान मानते हैं किन्तु कृष्ण की विशेषताओं से भिन्न विशेषताओं के कारण। उन्होंने लिखा था—"गीता में हमें जो महान असीम एवं परमोच्च आध्यात्मिक ज्ञान तथा अनुभव की शक्ति दिखाई देती है, उसका किंचित भी अंश ईसा में नहीं है। फिर गोपीप्रेम का भावोद्रेक, प्रेमाकुलता, सौन्दर्य तथा इसका मूलभूत समस्त रहस्य और कृष्ण-प्रतीक की बहुमुखी अभिव्यक्ति—इनमें से किसी का कुछ भी अंश वहां दृष्टिगोचर नहीं होता।" ऐसी तुलनाओं को वे मना करते हैं क्योंकि साम्प्रदायिक संकीर्णता त्याग कर वस्तु-स्थिति को समझ पाना प्रायः सम्भव नहीं है। जो जिससे प्रेरणा पा सकता है, उसी महापुरुष के प्रति आकृष्ट रह कर विकास करे, यही ठीक है। श्री अरविन्द के स्वर्णिम शब्द हैं—"मैं व्यक्तिगत रूप से जो कुछ अनुभव करता हूं, वह मेरे लिए ही है—दूसरों से मैं अपने मानदण्ड को स्वीकार करने के लिए नहीं कह सकता।"

भारतीय संस्कृति

श्री अरविन्द बताते हैं कि किसी समाज की संस्कृति वस्तुतः उस समाज की जीवन-चेतना की अभिव्यक्ति है जो तीन पक्षों में रूप ग्रहण करती है—आदर्शात्मक

व आकांक्षात्मक, रचनात्मक आत्माभिव्यक्तिपरक तथा व्यावहारिक व वाह्य। आदर्शात्मक पक्ष दर्शन में, तथा आकांक्षात्मक पक्ष धर्म में, रचनात्मक व आत्माभिव्यक्तिपरक पक्ष साहित्य व कला में तथा व्यावहारिक व वाह्य पक्ष समाज रचना व राजनीति में देखे जा सकते हैं। भारतीय संस्कृति का केन्द्रीय विचार रहा है मानव के आध्यात्मिक स्वरूप का अन्वेषण और उस दिव्य सत्ता में जीने के लिए मानव-व्यक्ति तथा मानव-समाज को तैयार करना। श्री अरविन्द के अनुसार भारतीय तत्त्व दर्शन, धर्म, साहित्य, कला, समाज-रचना तथा राजनीति की यही धुरी रही है। इस विचार में जीवन की अवहेलना नहीं है अपितु जीवन को भौतिक, प्राणिक और मानसिक स्तरों पर समृद्ध करते हुए भी अंतिम तथा सर्वोच्च ध्येय के लिए क्रमश: साधनरूप में स्वीकार करने का विचार है, साध्यरूप में नहीं।

भारतीय धर्म

श्री अरविन्द के अनुसार भारतीय धर्म का मूलभूत विचार रहा है एक ओर अनन्त परमात्मा की नाना रूपों में यथारुचि, यथाधिकार उपासना तथा उसका विश्व में सर्वत्र दर्शन व उससे एकरूपता की उपलब्धि के लिए जीवन को उन्मुख करना। नाम और रूप से परे परमतत्त्व को पाने के लिए यह धर्म अनन्त नामों, अनन्त रूपों, अनन्त पद्धतियों, अनन्त शास्त्रों, अनन्त प्रतीकों तथा अनन्त दार्शनिक विचारों को सत्य स्वीकार करके चलता है। इसीलिए भारतीय धर्म न केवल अद्वैतवाद है, न केवल वहुदेववाद, न केवल विश्ववाद; अपितु ये सब और ऐसे ही अनन्त वादों का समावेशी सनातन रूप है। इसीलिए भारतीय धर्म सनातन धर्म है।

भारतीय कला

श्री अरविन्द ने भारतीय कला और पाश्चात्य कला का तुलनात्मक अध्ययन किया था और उनमें वह निरपेक्षता भी थी जो संतुलित समीक्षा के लिए आवश्यक है। उनके अनुसार, "इसमें सन्देह नहीं कि यूनानी चित्त वाहरी रूप पर वल देता है परन्तु इसके द्वारा वह एक कल्पनात्मक दृष्टि-सम्पन्न अंत:प्रेरणा की ओर ध्यान आकर्षित करता है जिसका लक्ष्य सौंदर्य की किसी दिव्य शक्ति को प्रकट करना होता है, और इसलिए वह हमें एक ऐसी वस्तु प्रदान करता है जो सौंदर्यबोधात्मक निरे इन्द्रिय सुख से कहीं अधिक होती है।" और इससे भिन्न रूप में "भारतीय मूर्तिकार रूप के पीछे अवस्थित किसी वस्तु पर वल देता है। एक ऐसी वस्तु पर जो स्थूल कल्पना में तो अधिक दूर पर आत्मा के अधिक निकट होती है, और वह भौतिक रूप को उस वस्तु की अपेक्षा गौण स्थान देता है।"

श्री अरविन्द उन पाश्चात्य आलोचकों का उपहास करते हैं जो भ्रांति या अज्ञान के कारण भारतीय कला की उत्कृष्ट वस्तुओं को घटिया घोषित करते हैं और जिन कृतियों से प्रभावित भी होते हैं उनका सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रकार भारत-बाह्य देशों से जोड़ते हैं। ऐसे लोग ताजमहल को इटली के किसी मूर्तिकार की रचना कहते हैं —"वह यहां तक कि ताजमहल से इतना अधिक प्रभावित होता है कि यह मानने की चेष्टा करता है कि यह इटली के किसी मूर्तिकार की रचना है जो निस्सन्देह एक आश्चर्यजनक प्रतिभाशाली था और जिसने एकमात्र सफलता कें घंटे भर में अपना अद्भुत रूप में भारतीयकरण कर लिया था—क्योंकि भारत चमत्कारों का देश है—और जो सम्भवतः अपने इसी प्रयास के कारण मृत्यु के मुख में चला गया क्योंकि वह हमारी सराहना के लिए कोई अन्य कृति नहीं छोड़ गया है।"

शैलीगत विभिन्नता के कारण यदि पाश्चात्य मन भारतीय कलाकृति को नापसन्द कर दे तो यह कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है और न यह बुद्धिमत्ता की बात है कि जो कृति उसे अच्छी लगे, उसे भारतीय मानने को तैयार न हो क्योंकि "ठीक इसी तरह कोई यह भी कह सकता है कि बड़े अक्षरों वाली देवनागरी लिपि में लिखी हुई गीता एक बर्बर, भीषण या निरर्थक वस्तु है, परन्तु किसी घसीट की लिपि में वही मानवीय और बुद्धिगम्य हो जाती है, अतः भारतीय नहीं रहती।"

वस्तुतः किसी भी भारतीय या अन्य कलाकृति का मूल्यांकन करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि सभी महान कलात्मक कृतियाँ अन्तर्ज्ञान की क्रिया से—वस्तुतः किसी बौद्धिक विचार या कल्पना से नहीं—ये तो केवल मानसिक अनुवाद हैं—अपितु जीवन या सत्ता के किसी सत्य के प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान से, उस सत्य के किसी अर्थपूर्ण रूप से, मानव-मन में हुए उसके किसी विकास से उद्भूत होती हैं। और इस विषय में महान यूरोपीय और महान भारतीय रचना में कोई भेद नहीं है।

तब भारतीय और यूरोपीय कलाकृति में जो भारी भेद दिखाई देता है उसका कारण और स्वरूप बताते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि भेद अन्यत्र बहुत बातों में है—"अन्तर्ज्ञानात्मक दृष्टि के विषय और क्षेत्र में, दृष्टि या संकेत को कार्यान्वित करने की पद्धति में, इस कार्यान्विति में बाह्य रूप और शिल्प-प्रणाली द्वारा लिए गए भाग में, मानव-मन के लिए प्रस्तुत करने की सम्पूर्ण विधि में, और यहाँ तक कि हमारी सत्ता के उस केन्द्र में भी जिसे वह रचना आकर्षित करती है।" इसी की व्याख्या करते हुए वे बताते हैं कि "यूरोपीय कलाकार अपने अन्तर्ज्ञान को जीवन व प्रकृति में विद्यमान किसी बाह्य रूप से मिलने वाले संकेतों के द्वारा प्राप्त करता है अथवा यदि वह उसकी अपनी अंतरात्मा की किसी वस्तु से उद्भूत होती है तो शीघ्र ही वह उसका सम्बंध एक बाह्य अवलम्बन के साथ जोड़ देता है।" यूरोपीय कलाकार इस प्रकार प्राप्त अन्तर्ज्ञान को पहले बौद्धिक विचार एवं

बुद्धिगत कल्पना द्वारा मानसिक स्वरूप प्रदान करता है जो तर्कबुद्धि, भावावेश और सौन्दर्यबोध का विषय बन सके और तब उसे अपने हाथों से इस प्रकार कार्यान्वित करता है कि वह जीवन व प्रकृति की अनुकृति ही बने, कोई भिन्न वस्तु नहीं। परिणाम यह होता है कि यह कलाकृति हमारी आध्यात्मिक सत्ता का केवल उतना ही अंश दर्शक को प्रदान कर पाती है जो बाह्य मनुष्य के अनुकूल हो सकता है और "जीवन, कर्म, मनोवेग, भावावेश, विचार और प्रकृति जो स्वयं अपने लिए तथा अपने अन्दर विद्यमान सौन्दर्यात्मक आनंद के लिए देखे गए हों—ये ही इस सृजनशील अन्तर्ज्ञान का विषय और क्षेत्र हैं। इसमें न अनन्त सत्ता का आवाहन है और न उसकी शक्तियों का।

किंतु भारतीय कलाकार की कार्यविधि इससे बहुत भिन्न है; कारण यह है कि "भारतीय कला का भी आध्यात्मिक लक्ष्य और मूल तत्त्व वही है जो शेष मानवीय संस्कृति का है।" भारतीय कला का सर्वोच्च कार्य क्या है? "अन्तरात्मा के सम्मुख परम आत्मा, अनंत एवं भगवान के कुछ अंश को प्रकट करना—परम-आत्मा को उसकी अभिव्यक्तियों के द्वारा, अनंत को उसके सजीव सान्त प्रतीकों के द्वारा और भगवान को उनकी शक्तियों के द्वारा प्रकट करना।" यदि सर्वोच्च भारतीय कला यह न करे तो उसका एक और कार्य यह हो सकता है—"अन्तरात्मा की ज्ञानशक्ति या भक्तिभावना या धार्मिक सौन्दर्यात्मक भावावेग के समक्ष देवों को प्रकट करना, उनकी दीप्तिपूर्ण व्याख्या करना या किसी प्रकार उनका संकेत करना।" सर्वोच्च कला तो यह करती ही है किंतु जो विभूतियों, प्रतिभाओं अथवा जड़जगत या मनुष्य की अन्तः बाह्य प्रकृति का चित्रण करने वाली कम ऊंची कला है वह भी "महत्तर दृष्टि, पवित्र छाप और आध्यात्मिक दृष्टि "किसी न किसी अंश में अवश्य लिए रहती है और भौतिक वातावरण के पीछे अभौतिक वातावरण अवश्य अंकित या संकेतित रहता है।" बस, इसी कारण भारतीय कलाकार अपनी कला के विषय को अपनी आत्मा में देखता है, अपने अन्तर्ज्ञानात्मक मन में उसका रूप गढ़ता है। वह बौद्धिक विचार या बुद्धिगत कल्पना इत्यादि का चित्रण नहीं करता, वह तो स्थूल रूप, रंग, रेखा आदि को अभिव्यक्ति के भौतिक साधन मानकर गौण मानता है, प्रधान नहीं। वह अंकन करते समय प्रकृति को आदर्श नहीं मानता, न प्रकृति का अनुकरण ही करता है और अन्तर्दृष्टि को प्रकाशित करने के अपने प्रयास में वह प्रकृति से स्वतन्त्र होकर कार्य करता है। उदाहरण के लिए बुद्ध की मूर्ति गढ़ने वाला भारतीय कलाकार, "बुद्ध की प्रतिमूर्ति के द्वारा निर्वाण की शांति को अभिव्यक्त करना" अपना उद्देश्य मानता है, शेष सब उसके लिए साधन हैं और गौण हैं। इस कारण भारतीय कला को समझना इतना सरल नहीं जितना यूरोपीय कलाकृति को समझना। श्री अरविन्द के शब्दों में—"यदि हमें भारतीय कलाकृति के सम्पूर्ण अर्थ में प्रवेश करना हो तो उस

सौन्दर्यात्मक सहज प्रेरणा में, जो कलागत समस्त मूल्यांकन के लिए आवश्यक है साधारण विकास के परे हमारे अन्दर एक आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि या संस्कृति के होना आवश्यक है···यह एक अन्तर्ज्ञानात्मक कला है और इसे—अन्तर्ज्ञानात्मक व आध्यात्मिक दृष्टि से ही देखना होगा।···यही भारतीय कला का विशिष्ट रूप है और इसकी उपेक्षा करना उसे बिल्कुल ही न समझना या बहुत गलत समझना होगा। भारतीय स्थापत्य, चित्रकला और मूर्तिकला अपनी अन्तःप्रेरणा में भारतीय दर्शन, धर्म, योग और संस्कृति की केन्द्रीय वस्तुओं के साथ घनिष्ठ रूप से एक ही नहीं हैं, अपितु वे इनके गूढ़ार्थ की विशेष रूप से तीव्र अभिव्यक्ति भी हैं।···वे बहुत अधिक सीमा तक भारत के आध्यात्मिक, चिंतनात्मक और धार्मिक अनुभव की पवित्र सौन्दर्यपूर्ण लिपि रही हैं।"

भारतीय वास्तुकला को समझने के लिए यह आवश्यक है कि तर्कबुद्धि और सौन्दर्यपरक कल्पना वाली स्थूल दृष्टि से नहीं अपितु सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए। श्री अरविन्द के शब्दों में—"एक महान प्राच्य कलाकृति उस मनुष्य के समक्ष अपना रहस्य सहज में प्रकट नहीं करती जो उसके पास केवल सौन्दर्य-विषयक कुतूहल भाव में या विवेचनशील समीक्षात्मक वस्तुनिष्ठ मन को लेकर आता है।" पर्यटक-भाव से देखने वाले तो उसे बहुत ही कम समझ सकते हैं क्योंकि इसे तो निर्जनता में, अपनी आत्मा में, एकांत में एवं ऐसे क्षणों में देखना होगा जब हम सुदीर्घ काल तक ध्यान करने में समर्थ होते हैं और भौतिक जीवन की रूढ़ियों के बोझ से यथासंभव कम से कम दबे हुए होते हैं।" इसीलिए यूरोपीय चित्रों और मूर्तियों को चित्रशालाओं और संग्रहालयों में देखा जाता है किन्तु प्राच्यकला को एकांत में पहाड़ियों पर—दैनिक जीवन के स्थूल क्षणों से दूर।

प्राचीन वास्तुकला की अधिकांश सामग्री काल-प्रवाह में नष्ट हो चुकी है, शेष रहे हैं कुछ मन्दिर। इन मंदिरों को समझने के लिए उस आध्यात्मिक और धार्मिक संस्कृति का ज्ञान आवश्यक है जिसके वे प्रतीक हैं। इसके अभाव में उसे पाश्चात्य दृष्टि से, चाहे वह कितनी भी कलात्मक हो, समझा ही नहीं जा सकता। "भारतीय मन्दिर, वह चाहे किसी भी देवता के निमित्त बनाया जाए, अपने अंतरतम सत्य-स्वरूप में दिव्य पुरुष के निमित्त प्रतिष्ठित एक वेदी है, विश्वात्मा का घर है, अनंत के प्रति एक आह्वान और आकांक्षा है।"

वेद

श्री अरविन्द वेद को पाश्चात्य दृष्टिकोण से देखने वाले भारत-विद्या-विशेषज्ञ (इंडोलॉजिस्ट) नहीं हैं। वे स्पष्ट कहते हैं—"वेद असभ्य, जंगली और आदिम कारीगरों की कृति नहीं हैं, अपितु वे एक परम कला और सचेतन कला के सजीव निःश्वास हैं।" वेद किन्हीं ग्रन्थों तक सीमित या किसी देश-काल से मर्यादित ज्ञान

नहीं, अपितु "वेद, यह उस उच्च आध्यात्मिक सत्य के लिए स्वीकृत नाम है जहां तक मनुष्य के मन की गति हो सकती है।"

श्री अरविन्द के अनुसार वेद उस युग की रचना है जो हमारे बौद्धिक दर्शनों से प्राचीन था। तब आधुनिक प्रणाली से भिन्न पद्धति से विचार की प्रगति होती थी। सर्वोच्च विद्वान लोग अपने सामान्य व्यावहारिक बोधों और दैनिक कार्यों से परे के सब ज्ञान के लिए आन्तरिक अनुभूति पर तथा अपने अन्तर्दृष्टिपूर्ण मन पर निर्भर रहते थे। "उनका लक्ष्य था प्रकाश, न कि तर्कसम्मत विश्वास।" और "भारतीय परम्परा ने वेदों के उद्भव के इस तत्त्व को निष्ठापूर्वक सँजो कर रखा है।" इसी कारण वैदिक ऋषि वेद के मंत्रों या सूक्तों का रचयिता नहीं, द्रष्टा है। "वेद की भाषा 'श्रुति' है, एक लय जिसका बुद्धि द्वारा निर्माण नहीं हुआ, अपितु जो सुनी गई, एक दिव्य वाणी जो असीम से निकलकर उस मनुष्य के अंतःश्रवण तक पहुंची, जिसने पहले से ही स्वयं को अपौरुषेय ज्ञान का पात्र बना रखा था।" और यह स्वतःप्रकाश ज्ञान 'इलहाम' जैसी कोई चमत्कार की बात नहीं कही गई है क्योंकि "जिस ऋषि ने इन शक्तियों (दृष्टि और श्रुति) का उपयोग किया था, उसने एक प्रगतिशील आत्मविकास के द्वारा उन्हें प्राप्त किया था।" वेद में यात्रा का रूपक सत्य के पथ पर आत्मा के प्रयाण के रूप में स्वीकृत है।

ऋग्वेद किसी बौद्धिक या कल्पनात्मक चिन्तन के परिणामों का लेखा-जोखा नहीं है; यह तो "उस महान उत्कर्ष का एक अभिलेख है जिसे मानव जाति ने अपनी सामूहिक प्रगति के किसी एक काल में विशेष उपायों के द्वारा प्राप्त किया था। और साधारण व रहस्यमय दोनों ही अर्थों में यह कर्मों की पुस्तक है, आन्तरिक और बाह्य यज्ञ की।"

वैदिक मंत्र जो "परम कला और सचेतन कला के सजीव निःश्वास हैं", अपने ऋषि की दृष्टि में "अपने तथा अन्यों के लिए आध्यात्मिक प्रगति का एक साधन था।" वह ऋषि की आत्मा में से उद्भूत था। यह उसके मन की शक्ति थी। वैदिक ऋषियों ने जिस द्वयर्थक प्रणाली से मंत्रों की रचना की थी, उसको समझने के लिए प्राचीन तथा आधुनिक सभी व्याख्याओं को श्री अरविन्द कुछ सहयोगी मानते हैं किन्तु यह महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं कि "वेद मुख्यतया आध्यात्मिक प्रकाश और आत्मसाधना के लिए अभिप्रेत हैं" अतः उनके भौतिक अर्थ की अपेक्षा प्रधान तथा अधिक सुसंगत आध्यात्मिक अर्थ को ही पुनर्जीवित किया जाना चाहिए।

श्री अरविन्द बताते हैं कि "वैदिक काल में वेद के दोनों अर्थों—रहस्यमय तथा स्थूल—का ठीक ज्ञान रहा, किन्तु कालान्तर में वेदानुयायी समाज बाह्य याज्ञिक क्रियाओं में उलझ गया, और अनुभूतियों से कट गया तब वेद उत्तरोत्तर लुप्त होता गया।" इसलिए जब भारतीय मन फिर से वेद के आशय के अनुसन्धान की ओर मुड़ा तो यह कार्य कठिन था और इसमें जो कुछ सफलता मिली, वह आंशिक थी।

ब्राह्मण ग्रंथों व उपनिषदों का सच्चा स्वरूप यही है।

वेद का सायण-भाष्य और पाश्चात्यों द्वारा की गयी व्याख्याएं दोषपूर्ण हैं। उनसे वेद-मंत्रों में असाधारण असम्बद्धता दिखाई देती है और वेद को सुविख्यात ज्ञान-स्रोत के रूप में देखने योग्य अर्थ-गौरव भी दिखाई नहीं देता। वेद का पाश्चात्य व्याख्याकार भ्रामक है क्योंकि वह परिश्रमी, साहसी आदि होने पर भी रहस्यवादी ऋषियों की रचनाओं को 'समझने के अयोग्य' है और वेद का सायण-भाष्य "एक ऐसी चावी है जिसने वेद वे आन्तरिक आशय पर दोहरा ताला लगा दिया है।" वस्तुतः वेद आध्यात्मिक अनुभूतियों व ज्ञान के महाकोष हैं और "यदि वैदिक प्रतीकों का अभिप्राय एक वार ज्ञात हो जाए तो वैदिक कथानकों का मनोवैज्ञानिक अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है।"

उपनिषद

श्री अरविन्द की दृष्टि में उपनिषदों का अत्यधिक महत्त्व है। उन्होंने स्वीकार भी किया है कि गीता और उपनिषदों का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उपनिषदों में अत्यन्त उच्च कोटि की भावना तथा मानव-बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य सर्वोच्च ज्ञान है। "जिस अनादि, अनन्त, गम्भीरतम ज्ञान में सनातन धर्म आरूढ़ मूल है उस ज्ञान का भण्डार ही उपनिषद है।" "अनाच्छन्न परमज्ञान" उपनिषदों के सही अर्थ को जानने के लिए किसी भी व्याख्या से सीमित न होकर उनका स्वतन्त्र अध्ययन करना चाहिए।

श्री अरविन्द बताते हैं कि उपनिषदों में ऋषियों के उच्च कोटि के आध्यात्मिक अनुभवों का वर्णन है, कोई दार्शनिक विवेचन नहीं और उन्हें उसी रूप में समझने से द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि से सम्वन्धित विभिन्न प्रसंगों की संगति स्वयं लग जाती है।

गीता

श्रीमद्भगवद्गीता भारत का राष्ट्रीय ग्रन्थ तो है ही, विश्व के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों का भी वह मुकुटमणि है। भारत के प्रायः सभी आचार्यों ने श्रीमद्भगवद्गीता से अपने-अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। आद्य शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि के समान ही इस युग में भी लोकमान्य तिलक आदि मनीपियों ने गीता का मंथन कर नवनीत प्रस्तुत किया है। श्री अरविन्द-कृत 'गीता-प्रवन्ध' (एसेज़ आन दी गीता) में भी गीता की अत्यन्त आकर्षक और अपूर्व व्याख्या मिलती है।

श्री अरविन्द की दृष्टि में, "गीता कोई दार्शनिक तत्वालोचना का ग्रन्थ नहीं है, यद्यपि प्रसंगवश इसमें अनेक दार्शनिक सिद्धान्त आ गए हैं। कारण यह है कि इसमें किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त का उल्लेख स्वयं उसी के प्रतिपादनार्थ तो

किया नहीं गया है। गीता का उद्देश्य परम सत्य को परम व्यावहारिक उपयोग के लिए खोजना है।"

यदि गीता में एकदेशीयता और सामयिकता की अधिकता होती तो वह शेष विश्व और युग-युग के लिए प्राय: व्यर्थ होती; किन्तु "गीता में ऐसा विषय बहुत ही कम है जो केवल एकदेशीय और सामयिक हो और जो है भी उसका आशय इतना उदार, गंभीर और व्यापक है कि उसे बिना किसी विशेष आयास के, और इसकी शिक्षा का तनिक भी ह्रास या अतिक्रम किए बिना, व्यापक रूप दिया जा सकता है।" गीता को देखकर ही लगता है कि यह कृति किसी सम्प्रदायवादी आचार्य की नहीं हो सकती। "गीता की भाषा, उसके विचारों की रचना, विविध भावनाओं का इसमें संयोग और उनका संतुलन—ये सब ऐसी बातें हैं जो किसी साम्प्रदायिक आचार्य की प्रकृति में नहीं हुआ करतीं, न एक-एक पद को कसौटी पर कसकर देखने वाली नैयायिक-बुद्धि में ही आया करती हैं।"

वस्तुत: गीता में आध्यात्मिकता का महत्त्वपूर्ण तत्त्व उसकी समन्वयी विशेषता के साथ उपस्थित है। "गीता तर्क की लड़ाई का शस्त्र नहीं है। यह वह महाद्वार है जिसमें समस्त आध्यात्मिक सत्य और अनुभूति के जगत की झांकी होती है। और इस झांकी में उस परम दिव्यधाम के सभी स्थान यथास्थान दिखाई पड़ते हैं।" इसी कारण श्री अरविन्द ने कहा है—"गीता नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र का ग्रन्थ नहीं है अपितु आध्यात्मिक जीवन का ग्रन्थ है।" और गीता में जिस समत्व का विधान किया गया है, उसका स्वरूप है आध्यात्मिक।" साथ ही यह समझना भी आवश्यक है कि गीता सांख्य, न्याय, वैशेषिक या मीमांसा का ग्रन्थ नहीं है, "गीता मूलत: वेदान्त-ग्रन्थ है।" उसकी विचारधारा व भावधारा में समन्वय का स्वर मुखर है—"गीता की विचारधारा व्यापक है। उसकी गति तरंगों की तरह उतार-चढ़ाव वाली और नाना विषय भावों का आलिंगन करने वाली है जो किसी विशाल समन्वयात्मक बुद्धि और सुसम्पन्न समन्वयात्मक अनुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण है।"

किन्तु फिर भी यह कहना उचित नहीं है कि गीता में सब कुछ है और गीता से बाहर कुछ भी नहीं हो सकता। सभी सद्ग्रन्थों में अथवा महापुरुषों की वाणियों में जो सत्य मिले उसे एकत्र कर लेने पर भी "आप यह नहीं कह सकेंगे कि जो कुछ है, बस यही है। इसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। और न यह कि जिस सत्य को आपकी बुद्धि इसके अन्दर नहीं देख पाती, वह सत्य ही नहीं है क्योंकि वह उनके अन्दर नहीं है।"

गीता में अवश्य ही कर्म का प्रतिपादन है क्योंकि "गीता एक योद्धा से कही गयी है जो कर्मठ है। उसमें जीवन का कर्तव्य है, युद्ध और संरक्षण।" गीता में श्रीकृष्ण का उपदेश यह है कि "हमें अपने कर्म से भगवान की पूजा करनी चाहिए।

हमें अपनी सत्ता और प्रकृति के स्वधर्म के द्वारा निर्धारित कर्मों को भगवान की भेंट चढ़ाना चाहिए।" और इस प्रकार "गीता जिस कर्म का प्रतिपादन करती है वह मानव कर्म नहीं अपितु दिव्य कम है।"

परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण को श्री अरविन्द ने अपने अध्यात्मयोग में सर्वोपरि स्थान दिया है। आत्मसमर्पण भक्त ही कर सकता है। गीता में आत्म-समर्पण का तत्त्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। "यह पूर्ण आत्मसमर्पण, यह अनन्य शरणागति ही वह भक्ति है जिसे गीता ने अपने समन्वय का मुकुट वनाया है।"

भौतिकवादी जगत के चिन्तन की सीमा मानवतावाद है और जीवन की सीमा प्राण, हृदय और बुद्धि में है किन्तु "गीता कहती है कि भगवान में रहो। आत्मा में जीओ।" और इस प्रकार "गीता दिव्य जीवन बिताने की शिक्षा देती है।"

गीता की शिक्षा से उत्पन्न जो जीवन-विषयक धर्म है, वह है "भगवान के साथ एकत्व, सब प्राणियों के साथ एकत्व, सर्वत्र सनातन भागवत एकता का अनुभव और इसी एकत्ता की ओर मनुष्यों को आगे बढ़ा ले जाना।" भगवान में रहना ही दिव्य जीवन विताना है, गीता इसी की शिक्षा देती है—"गीता की शिक्षा का यही सम्पूर्ण सार-सर्वस्व कहा जा सकता है—जो सब में स्थित भगवान से प्रेम करता है और जिसकी आत्मा भागवत-एकता के भाव में प्रतिष्ठित है, वह चाहे कैसे भी रहे, या चाहे जो कर्म करे, भगवान में ही रहता है और भगवान में ही कर्म करता है।"

गीता का अवतारवाद के सम्बन्ध में मत श्री अरविन्द को स्वीकार है—"गीता मानव रूप में भगवान के अवतार लेने के सिद्धान्त को मानती है क्योंकि भगवान गीता में मानवरूप में बार-बार युग-युग में प्रकट होने की बात कहते हैं।" किन्तु साथ ही "गीता हमें बतलाती है कि साधारण मनुष्य जिस प्रकार विकास को प्राप्त होता हुआ भागवत जन्म को प्राप्त करता है, उसका नाम अवतार नहीं है। भगवान जब मानवता के अन्दर प्रत्यक्ष रूप में उतर आते हैं और मनुष्य के ढांचे को पहन लेते हैं, तब वह अवतार कहलाते हैं।"

पुराणों को समझने की रीति

श्री अरविन्द पुराणों के प्रति आदर का भाव रखते थे क्योंकि वे उनमें वेद की महत्त्वपूर्ण बातों के सरस प्रतिपादन तथा प्रतीकात्मक शैली से अनेक गम्भीर तत्त्वों के निरूपण तथा उनकी शैली को पसंद करते थे। पुराणों में इतिहास भी है, यह वे जानते थे किन्तु उनमें सभी असुर-वध इत्यादि प्रकरण भौतिक अर्थो में ही स्वीकार नहीं किए जाने चाहिए, यह भी उन्हें स्पष्ट था। वे जानते थे कि पुराणों में तथ्यों और परम्पराओं के अतिरिक्त आध्यात्मिक अनुभूतियों, सूक्ष्म जगतों के अनुभव इत्यादि भी समाविष्ट हैं और फिर उनमें कविता भी है। श्री अरविन्द की पुराण-

सम्बन्धी दृष्टि का परिचय एक बार शिष्यों से कही गई उनकी इन बातों में मिलता है—"कवि इतिहास नहीं लिख रहा है, वह कविता लिख रहा है। उसे यह (कविता) चैत्य अन्तर्ज्ञानात्मक तल या अपनी कल्पना से मिली होगी या चैत्य-मानसिक तल (साइकोमेण्टल प्लेन) से या कहीं अन्य स्थान से।" वे उदाहरण देते हुए कहते हैं कि कृष्ण धरती पर हुए या नहीं, यह महत्त्व का प्रश्न नहीं है, यदि वे चैत्य व आध्यात्मिक तल पर अनुभव किए जा सकते हैं क्योंकि भौतिक तो चैत्य की छाया मात्र है।"

कालिदास

श्री अरविन्द ने वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को 'प्राचीन भारत के इतिहास का सार' कहा है। कालिदास और शेक्सपियर की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा था—

"उनमें और शेक्सपियर में कुछ द्रष्टव्य समानताएं हैं। अन्य समानताओं के अतिरिक्त यह भी है कि शेक्सपियर के समान ही उन्होंने आसन्न भूतकाल को वर्तमान की शब्दावली में प्रस्तुत किया है और कहीं-कहीं पर वर्तमान को भावी के संकेतों से अवगत भी कराया है। शेक्सपियर के समान ही उन्होंने भी धर्म की अधिक चिन्ता नहीं की···। उनकी कृतियों में उच्चादर्श और उच्च विचार की प्रशंसा अवश्य है—परन्तु यह प्रशंसा सौन्दर्यपरक है।"

श्री अरविन्द की दृष्टि में कालिदास के काव्य में तत्कालीन भौतिक सभ्यता का पूर्ण प्रतिनिधित्व है। "कालिदास में गतिशील बल है ऐन्द्रिक आवेग का, सौन्दर्य-भावना का। इसीलिए वे विश्व के महानतम कवियों में हैं। वे भाषा और ध्वनि के स्वामी हैं और उनकी शैली में संक्षिप्तता, गंभीरता और भव्यता सर्वत्र मिलती है।" "संस्कृत में उनका अपूर्ण 'कुमारसंभव' उतना ही ऊंचा है—जितना अंग्रेजी में 'पैराडाइज लास्ट'।"

कालिदास की प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है—कालिदास, जिन्होंने अपने युग में इतने पक्षों को लेखबद्ध किया है, अवश्य ही युग के प्रतिनिधि व्यक्ति व मनीषी हैं, ठीक वैसे ही जैसे व्यास भारतीय सभ्यता की बौद्धिकता के और वाल्मीकि इसकी नैतिकता के।"

भारतीय पुनर्जागरण

जिस भारतीय पुनर्जागरण का प्रारंभ १९वीं शताब्दी में हुआ और जो अभी भी पूर्ण नहीं हुआ है, उसमें श्री अरविन्द का अपना योगदान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्री अरविन्द ने स्वयं इस पुनर्जागरण का विश्लेपण और मूल्यांकन ही नहीं किया था, उसका दिशा-निर्देश भी किया था। श्री अरविन्द के अनुसार, इस

पुनर्जागरण को यूरोप के पुनर्जागरण के समान कहना भारी भूल है। ईसाई व सामंती यूरोप पर यूनानी व रोमन चेतना का, जिसमें बौद्धिकता और जिज्ञासा का प्राधान्य था, छा जाना ही यूरोपीय पुनर्जागरण कहलाया था। किंतु भारत के पुनर्जागरण में किसी सर्वथा नवीन तत्त्व को स्वीकार करने वाली बात नहीं हुई। श्री अरविन्द के अनुसार भारतीय पुनर्जागरण का आयरलैंड के पुनर्जागरण से कुछ सादृश्य अवश्य है जहां अंग्रेजी प्रभावों को दूर करके आयरलैंड पुनः अपनी केल्टिक भावना व संस्कृति को पुनः पाने में प्रयत्नशील हुआ। १९वीं शती का भारतीय पुनर्जागरण यद्यपि इससे कुछ मिलता-जुलता है किंतु ठीक इसके समान नहीं है क्योंकि भारतीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप भारत की प्राचीन भावना और आत्मा पुनः एक विशेष रूप में जाग्रत हुए।

इस पुनर्जागरण से पहले भारत के तीन युगों की श्री अरविन्द चर्चा करते हैं। सर्वप्रथम है प्राचीन भारत का महान आध्यात्मिक युग अर्थात वेदों व उपनिषदों का युग, जिसमें जीवन के सत्य को खोजा गया और जिसकी छाप भारतीय जीवन पर अमिट है। द्वितीय है आध्यात्मिक सत्य के प्रकाश में जीवन को सम्बद्ध करने व शासित करने के लिए बुद्धि, नैतिक भावना और गतिशील इच्छा की कार्यशीलता का महान और सुदीर्घ युग। इसी युग में दर्शन, विज्ञान, कला, राजनीति, समाज-शास्त्र, साहित्य इत्यादि सांसारिक जीवन के सभी क्षेत्रों में भारत ने उत्कृष्ट विकास किया किंतु आध्यात्मिकता का कभी विस्मरण नहीं हुआ। और तृतीय है पतन का काल, जिसमें तीन बातें हुईं—जीवन में वैभव-प्राप्ति तथा रचनात्मकता की भावना का मंद हो जाना, प्राचीन स्वतन्त्र बौद्धिक सक्रियता का शिथिल हो जाना तथा आध्यात्मिकता की ज्वाला का हल्का हो जाना। इस युग में भौतिक जीवन की उपेक्षा होने लगी। स्वतंत्र बौद्धिक चिंतन का स्थान अनुकरण और टीका ने ले लिया। आध्यात्मिक संश्लेषण-क्षमता प्रायः समाप्त हो गई और कुछ सत्यों पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाने लगा और शेष सत्यों की उपेक्षा हो गई। भारतीय संस्कृति यहीं पर अंशतः मार्ग भटक गई। आधारभूत सत्य तो भारत को अभी भी ज्ञात रहे किंतु संभ्रम बहुत हो गया। इसी अवसर पर यूरोपीय लहर ने भारतवर्ष पर आघात किया।

इस अवसर पर पुनर्जागरण तीन सोपानों में हुआ। प्रथम सोपान में भारत एक बार तो यूरोपीय प्रभावों से अभिभूत दिखाई दिया, पश्चिम का सब-कुछ अच्छा माना जाने लगा और प्राचीन भारतीय संस्कृति के सभी सिद्धांतों को ही अस्वीकार किया गया। द्वितीय सोपान में भारतीय चेतना ने यूरोपीय प्रभाव के विरुद्ध प्रतिक्रिया की। इसमें यूरोपीय प्रभाव की पूर्णतया उपेक्षा तथा प्राचीन भारत की पूर्ण स्वीकृति की प्रधानता रही। तृतीय सोपान में (जो अभी चल रहा है) भारतीय चेतना द्वारा नवीन रचना का युग प्रारंभ हुआ जिसमें

भारतीय मन की सर्वोच्चता रखते हुए तथा प्राच्य एवं पाश्चात्य के सम्यक् अध्ययन-पूर्वक अपने प्राचीन सत्यों को युगानुकूल तथा पश्चिम द्वारा दिए गए सत्यों को देशानुकूल बनाकर ग्रहण करने की प्रवृत्ति रही। इस पुनर्जागरण का लक्ष्य "पाश्चात्य आधुनिकता का केवल एशियाई संस्करण प्रस्तुत करना नहीं है अपितु "पाश्चात्यों के किसी आधुनिक विचार व रूप को उपयोगिता या अनिवार्यता के कारण ग्रहण करते हुए भारतीय चेतना उसे इस प्रकार रूपान्तरित करती है तथा इस प्रकार उसका भारतीयकरण करती है कि उसका विदेशी स्वरूप अदृश्य हो जाता है।"

भारतीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप स्वतंत्र चिंतन, प्राचीन भारत के सम्पूर्ण जीवन को सूक्ष्म दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति, पश्चिम की सभ्यता और संस्कृति को आध्यात्मिक दृष्टि से परखने की प्रवृत्ति, धार्मिक जागृति इत्यादि और साहित्य, कला इत्यादि में नवीन हलचल से युक्त एक नये युग का प्रादुर्भाव हुआ। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द के कार्य इत्यादि पुनर्जागरण के ही लक्षण थे। निस्संदेह भारतीय पुनर्जागरण के प्रारंभिक काल में प्राचीन भारतीय संस्कृति को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सका और पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से जो भारतीय सर्वप्रथम जागरण के अग्रदूत बने उनका विचार इससे भिन्न था। वे प्राचीन भारतीय संस्कृति के स्वरूप को सम्यक् दृष्टि से न देख पा सकने के कारण भारत को पूर्णतया 'आधुनिक पश्चिम' बनाने की कल्पना करते थे और इंग्लैंड उनका हर दृष्टि से आदर्श था। वे महान बौद्धिक व्यक्ति थे और एक तर्कसम्मत धर्म की स्थापना करना चाहते थे। उनके प्रयत्नों से भारत में स्वतंत्र चिंतन का युग पुनः प्रारम्भ हुआ। प्राचीन संस्कृति में नये विचारों का मानो खमीर दिया गया और अपने अतीत के सभी कुछ पर नयी दृष्टि डाली गई जिससे उस प्राचीन भावना व चेतना को कुछ मात्रा में ग्रहण किया जा सका।

श्री अरविन्द ने बंकिमचंद्र चटर्जी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कृतियों को भारतीय पुनर्जागरण की उस अवस्था का उदाहरण माना है जिसमें अंग्रेजीकरण का हठपूर्ण वातावरण बहुत कुछ समाप्त हो गया था और प्राचीन भारत के विषय में अवहेलना व तिरस्कार का स्वर समाप्त हो गया था और एक प्रकार का संतुलन सा आने लगा था और केवल पाश्चात्य प्रेरणा के स्थान पर प्राचीन भारतीय विचारों को महत्त्व मिलने लगा था। "हमारे अर्वाचीन साहित्य में सर्वाधिक विशिष्ट और मौलिक प्रतिभा वाले दोनों मनीषियों, बंकिमचन्द्र चटर्जी और टैगोर की कृतियां इसी परिवर्तन की अवस्थाओं को प्रदर्शित करती हैं।"

श्री अरविन्द ने भारतीय पुनर्जागरण में स्वामी विवेकानन्द के महत्त्वपूर्ण योगदान की चर्चा की है। स्वामी विवेकानन्द ने पाश्चात्य संस्कृति के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को सूक्ष्म रीति से ग्रहण करने तथा भारतीय सत्यों के साथ उनका संश्लेषण

करने का मार्ग अपनाया जिससे प्राचीन विचारधारा और नवीन विचारधारा, दोनों के लोगों को, परंपरावादी मन तथा आलोचक मन दोनों को, एक साथ ही संतुष्ट किया जा सके। संश्लेषणात्मक पुनर्व्याख्या का सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए प्राचीन संस्कृति के रूपों का सम्मान करते हुए भी उन्हें आवश्यकतानुसार नये सांचे में ढालने का अथवा किसी भी नये कार्य को, जो प्राचीन संस्कृति के विरुद्ध न लगे, स्वीकार करने का यह प्रयत्न स्वयं में महत्त्वपूर्ण रहा। "अतीत और वर्तमान से इस अधिक स्वतन्त्र व्यवहार के पुनर्रचना द्वारा संरक्षण के विवेकानन्द अपने जीवन-काल में सर्वप्रमुख उदाहरण थे और सबसे अधिक सशक्त व्याख्याता भी।"

किन्तु फिर भी समस्या का समाधान तो शुद्ध भारतीय चेतना की उपलब्धि से ही होगा। श्री अरविन्द के शब्दों में, "भारत को अपनी आत्मा की जन्मजात शक्ति पर ही पूर्णतया वापस पहुंचना होगा और अपने वर्तमान व भावी जीवन की सभी आवश्यक शक्तियों को उस आत्मा के लिए कार्य करने, संघटित करने तथा समंजित करने के लिए वस्तु-सामग्री में परिवर्तन करना होगा।" ऐसी नवीन रचना प्रत्येक क्षेत्र में करनी होगी जो भारतीय चेतना की मौलिक उद्‌भावना हो और आधुनिक भी हो। इसका एक उदाहरण श्री अरविन्द नवीन भारतीय कला में पाते हैं। ऐसी मौलिक रचनाएं ही इस बात का प्रमाण होंगी कि "भारत ने अपने पुनर्जागरण में सर्वांगतः आत्मा को प्राप्त कर लिया है।"

श्री अरविन्द इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि इस आत्मोपलब्धि के परिणाम-स्वरूप भावी भारत का स्वरूप क्या होगा। यद्यपि स्पष्ट रूप से विवरण नहीं दिए जा सकते परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि आध्यात्मिक उद्देश्य ही सर्वप्रधान होगा। किन्तु इस आध्यात्मिक उद्देश्य को मात्र तत्त्वदर्शन अथवा निष्क्रिय चिंतन समझना भूल होगी। भारत अवश्य ही तत्त्वदर्शन में सदैव आगे तो रहेगा, परंतु यह तत्त्वदर्शन यूरोपीय तत्त्वदर्शन जैसी 'विचारों की बुनावट' मात्र नहीं होगी। भारतीय दृष्टि में तत्त्वदर्शन का कार्य आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए बौद्धिक पहुंच मात्र करना है और भविष्य का भारतीय दर्शन भी ऐसा ही होगा।

जिस प्रकार प्राचीन भारत में, जो आध्यात्मिक था, भौतिक जीवन की उपेक्षा नहीं थी, उसी प्रकार इस पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप भी आध्यात्मिकता जीवन की ओर प्रवत्त होगी। निस्सन्देह आध्यात्मिकता मन, प्राण और शरीर की उपेक्षा नहीं करेगी, न वह प्राचीन भारत में करती थी। "आध्यात्मिकता अवश्य ही सब कुछ छोड़ने वाली नहीं होती, यह सर्व-समावेशी हो सकती है और अपनी परिपूर्णता के लिए होनी भी चाहिए।" हां, आध्यात्मिक दृष्टि-कोण में मन, प्राण और शरीर मानव के उच्चतम विकास अर्थात पृथ्वी पर दिव्य जीवन को साकार करने में साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। यही आध्यात्मिक

संस्कृति पुनर्जाग्रत भारत की संस्कृति होगी और उसके प्रकाश में दर्शन, साहित्य, कला, राजनीति, विज्ञान तथा ज्ञान की अन्य शाखाएं आलोकित हो उठेगी। ऐसा जाग्रत भारत पुनः इतिहास का एक सत्य बनकर ही रहेगा। "भारत का पुनर्जागरण ऐसा ही अनिवार्य है जैसा कल का सूर्योदय, और ऐसी विशिष्ट प्रकृति वाले, ऐसी अद्वितीय परम्पराओं और जीवनपरक विचारों वाले, ऐसी सशक्त वुद्धि वाले और इतनी महान समर्थ शक्तियों वाले तीस करोड़ लोगों के महान राष्ट्र का पुनर्जागरण आधुनिक विश्व की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना ही होगी।"

श्री रामकृष्ण परमहंस

श्री अरविन्द के हृदय में श्री रामकृष्ण परमहंस के प्रति श्रद्धा का भाव था तथापि वे उनके मार्ग के अनुयायी नहीं थे। वे श्री रामकृष्ण परमहंस को वहुत ऊंचा मानते थे किन्तु मानव और भी ऊंचा हो सकता है, भागवत चेतना से एकरूप हो सकता है यह भी वे जानते थे। एक स्थान पर उन्होंने लिखा था—"रामकृष्ण क्या थे ? मानव-शरीर में अभिव्यक्त भगवान, परन्तु पीछे की ओर अपनी अनन्त निर्वैयक्तिकता तथा अपने विश्वमय व्यक्तित्व के साथ स्वयं भगवान विराजमान रहते हैं।"

अंग्रेजी का प्रयोग

श्री अरविन्द अंग्रेजी शब्दों को भारतीय भावों की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं मानते थे। 'कर्मयोगी' में प्रकाशित लेख 'दोनों अवस्थाओं' में उन्होंने कहा था कि भारत 'तपस्या', 'ज्ञान' और 'शक्ति' से ही स्वतन्त्र और महान वन सकेगा किन्तु तपस्या आदि को अंग्रेजी के 'डिसिप्लिन', 'फिलासफी' और 'स्ट्रेंग्थ' शब्दों से व्यक्त करना दोषपूर्ण है। उनके ही शब्दों में—

"परन्तु पूर्व के ये महान भाव अंग्रेजी के घटिया पर्यायों 'डिसिप्लिन', 'फिलासफी' तथा 'स्ट्रेंग्थ' से ठीक प्रकट नहीं होते। 'तपस्या' डिसिप्लिन से अधिक कुछ और भी है। यह है उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाली दिव्य शक्ति को आध्यात्मिक साधनों से अपनी दैहिक सत्ता में चरितार्थ करना। 'ज्ञान' फिलासफी से कहीं वड़ी चीज है, यह अन्तःस्फुरित और साक्षात ज्ञान है जो उस शक्ति से उदित होता है जिसे हमारे पूर्व-पुरुषों ने 'दृष्टि' अर्थात 'आध्यात्मिक दृष्टि' शब्द से पुकारा है। शक्ति 'स्ट्रेंग्थ' से कहीं वड़ी चीज़ है। जो विश्वव्यापी शक्ति ग्रह-नक्षत्रों को घुमाती है, उसी का व्यष्टि-रूप है शक्ति।"

गांधी जी का अहिंसावाद, चरखा इत्यादि

श्री अरविन्द महात्मा गांधी के सहृदय आलोचक थे। उनके अन्य लेखादि से तो कम किंतु श्री पुराणी द्वारा दिए गए पारस्परिक वार्तालाप के विवरणों से

पर्याप्त प्रकाश इस पर भी पड़ता है कि गांधी जी के राजनीतिक नेतृत्व, अहिंसावाद तथा चरखा इत्यादि के विषय में श्री अरविन्द के क्या विचार थे। यह सत्य है कि श्री अरविन्द जब भारतीय सक्रिय राजनीति को त्यागकर ईश्वरीय आदेश के अनुसार पांडीचेरी पहुंच गए थे, तब उन्होंने भारत का भावी नेतृत्व ईश्वरीय इच्छा के अनुसार शांतिपूर्ण होगा, क्रांतिकारी नहीं, यह स्पष्ट कर दिया था। एक स्थान पर बाद में उन्होंने यह लिखा भी था कि तिलक, गांधी इत्यादि के हाथों में भारत का स्वातंत्र्य-युद्ध सुरक्षित है। किन्तु श्री गांधी के अहिंसावाद को नीति के रूप में तो वे ठीक समझ सकते थे परन्तु सिद्धान्त रूप में नहीं। गांधी जी द्वारा गीता को तोड़-मरोड़कर अहिंसा की उपदेशक और हिंसा के विरुद्ध कहने की बात का उन्होंने स्पष्ट खंडन किया था। चरखे और खादी को भी वे आर्थिक दृष्टि से उपयोगी मानते थे, उससे पवित्रता, स्वराज्य, सौन्दर्य आदि को सम्बंधित करना वे प्रलाप मात्र तथा व्यर्थ मानते थे। राष्ट्र में देशभक्तों के संगठन का जाल बिछाने तथा जन-जन को जागरूक करने के स्थान पर खादी इत्यादि का प्रचार उनकी दृष्टि में भटकाव था। उनकी दृष्टि में राजनीति में कार्य करने की पद्धति और ग्रामसुधार आदि की पद्धति में अन्तर था और महीने-दो महीने या वर्ष-दो वर्ष में ग्रामसुधार कर लेने की चर्चा पागलपन थी। वे स्वयं निष्क्रिय प्रतिरोध के समर्थक ही नहीं प्रतिपादक, प्रचारक व प्रयोगकर्ता रहे थे किंतु गांधी जी की 'सत्याग्रह' की बिल्कुल निजी व्याख्याएं—और वह भी बदलती हुई—उनकी दृष्टि में भ्रामक थीं। श्री अरविन्द की दृष्टि में गांधी जी का चिंतन भारतीय दर्शन से प्रभावित न होकर ईसाइयत, रस्किन और टाल्सटाय से प्रभावित था। वेद, कुरान और गीता का सम्मिश्रण उसमें बाद में कृत्रिम तौरपर कर दिया गया था। एक बार उन्होंने गांधी जी की तर्क-शैली पर प्रहार करते हुए कहा था कि गांधी जी का यह कहना कि जब तक अन्य लोगों को अच्छी खादी नहीं मिल पाती, मैं भी अच्छी खादी नहीं पहनूंगा, ऐसा ही है जैसे किसी का यह कहना कि जब तक अन्य लोग शिक्षित नहीं हो जाते, मैं भी नहीं पढ़ूंगा अथवा जब तक अन्य लोगों को भोजन नहीं मिलता, मैं भी भूखा मरूंगा। श्री अरविन्द गांधी जी के विचारों में बौद्धिक या आध्यात्मिक गहराई दोनों का अभाव देखते थे, हां वे उसमें नैतिकता अवश्य देखते थे।

श्री अरविन्द ने गांधी जी की तर्क-शक्ति की विचित्र दुर्बलता देखकर ही कहा था—मुझे इससे कोई मतभेद नहीं कि वह क्या कहते हैं जब तक वह कहते हैं, 'यह करो', 'वह करो'। वह ठीक है; किंतु वे तर्क क्यों देते हैं ?

हिन्दू-मुस्लिम-एकता

भारत में हिंदू-मुस्लिम-एकता को लेकर महात्मा गांधी के लम्बे प्रयोगों का अंतिम परिणाम भारत-विभाजन ही देखने को मिला। श्री अरविन्द ने अपनी सूक्ष्म

दृष्टि से इस समस्या के विविध पक्षों को देखा था। श्री पुराणी ने श्री अरविन्द की शिष्य-मंडली के मध्य बातचीत के अन्तर्गत इस विषय की सामग्री भी सँजोई है। श्री अरविन्द इस सम्बंध में गांधी-नीति से सहमत नहीं थे। उनका कथन था—"तुम ऐसे धर्म के साथ स्नेहपूर्वक रह सकते हो जिसका सिद्धान्त सहिष्णुता है। किन्तु ऐसे धर्म के साथ शांतिपूर्वक कैसे रहा जा सकता है जिसका सिद्धान्त है—मैं तुम्हें सहन नहीं करूंगा ?···अवश्य ही, हिन्दू-मुस्लिम-एकता इस आधार पर नहीं हो सकती कि मुसलमान तो हिन्दुओं का धर्मपरिवर्तन करते जाएंगे किंतु हिंदू नहीं करेंगे।···संभवतः मुसलमानों को अ-हानिकर बनाने का यही मार्ग हो सकता है कि उनकी अपने धर्म में मतान्ध श्रद्धा समाप्त करा दी जाए।" और क्या यह मतान्धता शिक्षा द्वारा दूर की जा सकती है ? श्री अरविन्द का उत्तर था—"वैसी शिक्षा के द्वारा नहीं जैसी उन्हें अलीगढ़ में मिलती है अपितु अधिक उदार बनाने वाली शिक्षा के द्वारा।"

श्री अरविन्द हिन्दू-मुस्लिम-एकता की उपलब्धि की संभावना सांस्कृतिक विधि में मानते थे, राजनीतिक में नहीं। श्री अरविन्द ने इस समस्या को कितना ठीक पहचाना था, यह उनके इन शब्दों में दर्शनीय है जो उन्होंने १६२३ अप्रैल में मुलतान के मुस्लिम दंगों के उपरान्त कुछ महत्त्वपूर्ण कांग्रेसी नेताओं के भाषणों की चर्चा छिड़ने पर कहे थे—"मुझे खेद है कि वे हिंदू-मुस्लिम-एकता को पूज्य वस्तु बना रहे हैं। तथ्यों की उपेक्षा करने से क्या लाभ; किसी दिन हिंदुओं को मुसलमानों से लड़ना पड़ सकता है और उन्हें इसके लिए तैयारी करनी चाहिए। हिंदू-मुस्लिम-एकता का अर्थ हिंदुओं का अधीन बन जाना तो नहीं होना चाहिए।" उन्होंने आगे कहा था— "इसका सर्वोत्तम समाधान होगा कि हिंदुओं को संघबद्ध होने दिया जाए और हिंदू-मुस्लिम-एकता अपनी चिंता स्वयं कर लेगी, इससे समस्या स्वयं ही सुलझ जाएगी। नहीं तो हम झूठी संतोष-भावना के भुलावे में ही आएंगे कि हमने एक कठिन समस्या को हल कर लिया है जब कि तथ्य यह है कि हमने इसे केवल ताक पर रख दिया है।"

श्री अरविन्द ने (जून १६२६ में) एक दिन बातचीत के प्रसंग में भारत द्वारा विदेशी तत्त्वों को आत्मसात् करने की चर्चा करते हुए कहा था कि भारत ने यूनानियों, पारसियों इत्यादि को आत्मसात् कर लिया, किंतु अपनी शैली से। भारत की शैली यह है कि वह तभी आत्मसात् करता है जब उसके केंद्रीय सत्य को दूसरा पक्ष स्वीकार कर ले और फिर वह आत्मसात् इस प्रकार करता है कि आत्मसात् किए गए तत्त्वों को विदेशी रूप में पहचाना ही न जा सके। वे तो उसी के अंग बन जाते हैं। तब फिर मुस्लिम संस्कृति को भारत ने आत्मसात् क्यों नहीं किया ? श्री अरविन्द के अनुसार "मुस्लिम संस्कृति को भी भारतीय मन ने बड़ी सीमा तक आत्मसात कर लिया था और संभवतः कुछ अधिक सीमा तक यह कार्य होता। किंतु

प्रक्रिया के पूर्ण होने के लिए यह आवश्यक है कि मुस्लिम मनोवृत्ति में अन्तर आए। संघर्ष वाह्य जीवन में है और जब तक मुसलमान सहिष्णुता न सीख लें, मेरे विचार में आत्मसात् करना संभव नहीं है।" उन्होंने आगे कहा था—"हिंदू तो सहन करने को तैयार है। वह नए विचारों के लिए सदैव तैयार है और उसकी संस्कृति में आत्मसात करने की आश्चर्यजनक क्षमता है, किंतु यह सर्वदा तभी हो सकता है जब उसके केंद्रीय सत्य को मान लिया जाए।"

श्री अरविन्द को भारतीय संस्कृति, हिंदू वृत्ति व मुस्लिम वृत्ति, भारतीय इतिहास, मानव-मनोविज्ञान इत्यादि का कितना गंभीर ज्ञान था, यह उनकी विचारावली को देखने से स्पष्ट हो जाता है।

निर्धनता

श्री अरविन्द के अनुसार भारत में दिखने वाली निर्धनता हमारी सामाजिक अव्यवस्था का परिणाम है। "निर्धनता है, यह इस बात का प्रमाण है कि समाज अन्यायपूर्ण और कुसंगठित है।" और वे लोग जो निर्धनों को दान देकर स्वयं को धन्य मानते हैं श्री अरविन्द के शब्दों में "केवल कुछ जाग्रत डाकू हैं।" श्री अरविन्द की शिक्षा है—"निर्धन की सहायता करो जब तुम्हारे साथ निर्धन हों, किंतु अध्ययन भी करो और ऐसा प्रयत्न करो कि तुम्हारी सहायता पाने के लिए कोई निर्धन शेप न रहने पाए।" समाज में दिखाई देने वाली निर्धनता समाज-पुरुप के शरीर का रोग मात्र है जो गलत सामाजिक जीवन तथा ठीक समाज-संगठन न होने का परिणाम है। श्री अरविन्द जिस भारत का स्वप्न देखते थे, वह सर्वविध समृद्ध भारत है, प्राचीन भारत के समान जहां आध्यात्मिकता का प्रकाश सन्यासवाद की उदासीन दृष्टि की नहीं, कर्मशीलता की सक्रिय दृष्टि की प्रेरणा देगा।

राष्ट्र के सामने पूंजीवाद को झुकना पड़ेगा

आधुनिक विश्व में पूंजीवाद एक भारी समस्या के रूप में उपस्थित है। एकांगी विचारदर्शन ने ही पूंजीवाद को जन्म दिया है। श्री अरविन्द के अनुसार मानव के मानसिक व आध्यात्मिक विकास में वाधक जो भी हो उसे नष्ट करना सदैव वांछनीय रहेगा और इसीलिए "पूंजीवाद को भी एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था स्वीकार करने के लिए प्रेरित या विवश करना पड़ेगा जिसमें कष्ट, दरिद्रता और शोपण नहीं होंगे तथा समाज की धन-सम्पत्ति का उन सबके द्वारा समान रूप से उपयोग किया जाएगा जो उसे अर्जित करने में सहायक होते हैं।" राष्ट्र की सार्थकता इसी में है कि मानव को अपने पूर्ण विकास के लिए जिस स्वतंत्रता, न्याय और समता की आवश्यकता है, उसकी वह व्यवस्था करे। और इसमें वाधा देने के कारण राष्ट्र के सामने पूंजीवाद को झुकना पड़ेगा।

मानवता

मानव-चक्र

श्री अरविन्द ने मानव-इतिहास की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। उनके अनुसार मानव-समाज कुछ विशेष मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं से होता हुआ प्रगति करता है। इस मानव-चक्र में क्रमशः प्रतीकात्मक युग, प्रकाराश्रित युग, परम्परा-प्रधान युग, व्यक्तिप्रधान युग, अनुभवप्रधान युग कहा जा सकता है। यहां यह समझना आवश्यक है कि ऐसा वर्गीकरण कठोरतापूर्वक लागू करने के लिए नहीं है क्योंकि मानव व मानव-संस्थाओं का मनोविज्ञान जटिल होता है और प्रकृति सरल रेखा से नहीं, घुमाव-फिराव वाले टेढ़े-मेढ़े मार्ग से विकास किया करती है।

मानव-समाज अपनी प्रारंभिक अवस्था में प्रतीकात्मक मनोवृत्ति का होता है। धर्म, धार्मिक व सामाजिक संस्थाएं, प्रतीकात्मकता से युक्त होते हैं। इसी कारण वेद में प्रतीक-शैली से महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक तत्त्वों को सँजोया गया है। प्रतीकात्मक युग मुख्य रूप से धार्मिक तथा आध्यात्मिक होता है।

मानव-विकास का दूसरा सोपान अर्थात प्रकाराश्रित युग मुख्यतया मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक होता है। धार्मिक तथा आध्यात्मिक तत्त्व अब उनकी तुलना में गौण हो जाते हैं। मानव-जीवन में भगवान की अभिव्यक्ति की जो बात प्रथम युग में प्रमुख थी, वह अब पीछे चली जाती है और धर्म अब केवल नैतिक लक्ष्य तथा अनुशासन के लिए एक 'गुह्य स्वीकृति मात्र' रह जाता है। इस युग में बड़े सामाजिक आदर्शों की रचना की जाती है जो मानव-मन पर अमिट प्रभाव छोड़ते हैं। उदाहरणार्थ प्रतीकात्मक युग में वर्णों का जो वर्णन प्रतीकात्मक रूप में था वह अब वर्ण-व्यवस्था का सामाजिक आदर्श बन जाता है।

कालान्तर में प्रकाराश्रित व्यवस्था परम्परा-प्रधान युग में परिवर्तित हो जाती है। इस युग में बाह्य उपकरणों का महत्त्व स्वयं आदर्श से भी बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ वर्ण-व्यवस्था के पहले कम महत्त्व पाने वाले "जन्म, आर्थिक कर्म, धार्मिक कर्म-कांड तथा पवित्र संस्कार एवं पारिवारिक रीति-नीति" जैसे बाह्य भौतिक अवलंबों को अत्यधिक महत्त्व मिल जाता है। "समाज के परम्परा-युग की प्रवृत्ति स्थिर

तथा सुव्यवस्थित करने की, मर्यादाएं बांधने की, रूढ़, पद्धतियों तथा वंश-परम्पराओं का विधान स्थापित करने की, विद्या और शिक्षण को परम्पराओं तथा अपरिवर्तनीय रूप के साथ बाँध देने की, विचार को अचूक प्रमाणों के द्वारा परखने की तथा जो उसे मनुष्य का पूर्ण जीवन प्रतीत होता है, उसे अंतिम तथ्य प्रमाणित करने की ओर होती है।" श्री अरविन्द बताते हैं कि 'स्वर्ण-काल' भी इसी परम्परा-युग में होता है और "जब आने वाली संततियां दूर से इस युग पर दृष्टि डालती हैं तब अपनी यथार्थ सुव्यवस्था, सुन्दर तथा सूक्ष्म सामाजिक रचना और एक व्यापक तथा उच्चकोटि की आयोजना में इसके अंगों की सराहनीय अधीनता के कारण यह स्वर्णयुग उन्हें प्रायः बड़ा सुन्दर तथा आकर्षक प्रतीत होता है।

जब परम्परा-युग दूषित हो जाता है और परम्परा अपने शुद्ध स्वरूप को खोकर रूढ़ि बन जाती है, तब मानव-समाज में व्यक्ति-प्रधान युग का प्रारम्भ होता है। यह युग विद्रोह के रूप में प्रारम्भ होता है। "नवीन युग का व्यक्तिवाद, विश्वास और व्यवहार की परम्पराओं के पीछे वास्तविक और ठोस सत्य की, किसी दृढ़ आधारशिला को खोज निकालने का एक प्रयत्न होता है।" इस युग में "व्यक्ति को ही आविष्कारक तथा नेता बनकर अपनी व्यक्तिगत बुद्धि, अन्तःप्रज्ञा, आध्यात्मिक आकांक्षा तथा जीवन पर अपने अधिकार अथवा अपने अन्दर के किसी भी अन्य प्रकाश की सहायता से, जगत तथा स्वयं अपनी सत्ता का सच्चा विधान खोज निकालना होता है।" और यह विधान ही सर्वश्रेष्ठ मानकर वह इसी पर धर्म, समाज आदि सभी को ढालने का प्रयत्न करता है। श्री अरविन्द के अनुसार "इस व्यक्ति-प्रधान युग का जन्म यूरोप में हुआ और वहीं इसका पूर्ण साम्राज्य भी स्थापित हुआ। इस युग में पूर्व का प्रवेश किसी मौलिक प्रवृत्ति के कारण नहीं अपितु यूरोप के संसर्ग तथा प्रभाव के कारण ही हुआ।" यूरोप के व्यक्ति-प्रधान युग में बुद्धि का प्रधान विद्रोही स्वर रहा और फलस्वरूप भौतिक विज्ञानों की अत्यधिक प्रगति हुई परन्तु यह सब सफलता ऊपरी तल की सफलता मात्र है। उसमें गहराई नहीं है। "यूरोप की बुद्धिवादी सभ्यता ने समस्त संसार में विजय का जो डंका बजा पाया, उसका कारण यह था कि कोई अधिक गंभीर तथा अधिक शक्तिशाली सत्य उसका सामना करने के लिए उपस्थित नहीं था क्योंकि शेष समस्त मानव-जाति परम्परा-युग की अंतिम अन्धकारमय घड़ियों में निष्क्रियता की नींद ले रही थी।"

व्यक्ति-प्रधान युग में "जीवन, विचार और कर्म के ठोस सत्यों को पुनः उपलब्ध करने की प्रबल आवश्यकता अनुभव की जाती है। किंतु इस युग में भी मानव-समाज परम्पराओं से मुक्त नहीं हो पाता। इसीलिए व्यक्ति-प्रधान युग के उपरान्त अनुभवप्रधान-युग का आगमन होता है। अनुभवप्रधान-युग यह स्पष्ट बोध देता हुआ आता है कि "पदार्थों के सत्य को, और उस सत्य के सम्बन्ध से अपनी सत्ता

के विधान को, खोज निकालने के लिए अधिक गहरे जाना होगा और अपने तथा पदार्थों के आभ्यंतरिक रहस्य एवं उनके वाह्य रूपों और परिस्थितियों की थाह लेनी होगी।" किन्तु कोरे आलोचनात्मक व विश्लेपणात्मक तर्क उसकी अधिक सहायता नहीं कर पाते और उसे सक्रिय आत्म-सचेतन वनकर ही स्वयं को पूर्णतया जान पाना संभव होगा। "इस प्रक्रिया में तर्कसम्मत आदर्श अन्त:प्रज्ञात्मक ज्ञान एवं गंभीरतर आत्मवोध के आदर्श के अधीन होने लगता है; उपयोगितावादी मानदण्ड के स्थान पर आत्मचेतना तथा आत्म-साक्षात्कार की आकांक्षा आ जाती है; भौतिक प्रकृति के व्यक्त नियमों के अनुसार जीवन-यापन करने की विधि के स्थान पर आ जाता है जगत के जीवन में तथा मानव-जाति के आन्तरिक तथा वाह्य जीवन में क्रियाशील गुप्त विधान, संकल्प तथा शक्ति के अनुसार जीने का प्रयास।"

आधुनिक युग अनुभववाद का युग है। श्री अरविन्द के अनुसार इसी युग में मानव-समाज पुन: उस विस्तृत ज्ञान की ओर वढ़ेगा जिसे "प्राचीन लोगों ने धार्मिक तथा सामाजिक प्रतीकवाद द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया था और जिसे मानव-समाज वाद में भूल गया।" पहले मानव के आन्तरिक अनुभव को गहरा वनाकर और संभवत: मानव-जाति में अन्तर्दृष्टि और आत्मज्ञान की अभूतपूर्व मात्रा में पुन: स्थापना करके, यह युग अन्त में उसकी सामाजिक व सामूहिक आत्माभिव्यक्ति में क्रांति उत्पन्न करेगा।

आध्यात्मिक युग कैसे आएगा ?

श्री अरविन्द ने मानव-चक्र में जिस अनुभवप्रधान-युग अर्थात आध्यात्मिक युग का उल्लेख किया है वह अवश्य आएगा, यह इतने आश्वस्त स्वर में श्री अरविंद ने कहा है जो अनुपम ही कहा जाएगा। मानव-जाति के विकास में वौद्धिक युग ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है किंतु अन्तत: आध्यात्मिकता पर आधारित मानव-समाज की स्थापना से आध्यात्मिक युग का प्रारम्भ होगा और इस युग में मानव-मन की महत्तर क्षमताएं प्रकट होंगी। आध्यात्मिक दृष्टि ही सच्ची दृष्टि है और उसके अनुसार मानव को केवल मन, प्राण और शरीर के रूप में नहीं देखा जा सकता, वस्तुत: वह आत्मा है। आध्यात्मिक लक्ष्य "मनुष्य-जीवन के उन सव विभिन्न भागों को पवित्र समझेगा जो उसकी सत्ता के शारीरिक, प्राणिक, गतिशील, आवेगात्मक, सौन्दर्यात्मक, नैतिक, वौद्धिक तथा आत्मिक विकास के साथ सम्वन्ध रखते हैं और साथ ही वह उन्हें एक दिव्य जीवन में विकसित होने के लिए एक साधन भी समझेगा। वह मानव-समाज, राष्ट्र, जाति अथवा किसी भी अन्य सुघटित समुदाय को इसी दृष्टि से देखेगा।" तात्पर्य यह कि आध्यात्मिक दृष्टि में मानव-समाज, राष्ट्र, जाति तथा अन्य सुघटित समुदाय "परम आत्मा की उप-आत्माएं" के रूप में देखे जाएंगे।

श्री अरविन्द मानव के आध्यात्मिक रूपान्तरण की आवश्यकता का विवेचन करते हैं तथा आध्यात्मिक युग के आगमन की अनिवार्य शर्तों का भी उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार समाज का नया सामूहिक जीवन "अपने व्यक्तियों के वृद्धिशील विकास द्वारा ही हो सकेगा।" और इसलिए यह आवश्यक है कि "आध्यात्मिक युग आने से पहले कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य प्रकट होने चाहिए जो अब मनुष्य के सामान्य बौद्धिक, प्राणिक और भौतिक जीवन से संतुष्ट न हों अपितु वे यह देख लें कि मनुष्य-जाति का सच्चा लक्ष्य एक महत्तर विकास है और वे अपने अन्दर इसे चरितार्थ करने का, दूसरों को इस ओर ले जाने तथा इसे मानव-जाति का एक स्वीकृत लक्ष्य बनाने का यत्न करें।" उनकी सफलता की मात्रा ही युग की संभावना की मात्रा होगी।

श्री अरविन्द के अनुसार आध्यात्मिक युग लाने के प्रयास को किसी नये सम्प्रदाय के निर्माण के रूप में देखना या करना भी त्रुटिपूर्ण है। वे इस विषय में सावधान करते हैं क्योंकि हर नया धर्म-सम्प्रदाय एक आन्दोलन के रूप में केवल कुछ पीढ़ियों में ही शिथिल हो जाता है और आध्यात्मिकता या तो बौद्धिकता की या कर्मकांड की दासी हो जाती है।

आध्यात्मिक युग आएगा ही। उसमें अधिक समय तो लग सकता है परन्तु उसे 'असंभव' कहना व्यर्थ है। "एक सच्चा आरम्भ करना ही होगा, शेष कार्य 'काल' पर निर्भर है, चाहे प्राप्ति एकदम हो जाए या फिर एक लम्बे धैर्यपूर्ण प्रयत्न के बाद हो।" श्री अरविन्द इस आध्यात्मिक युग के उदय की पूर्ण आशा बँधाते हैं। आध्यात्मिक युग में मानव का दिव्य जीवन प्रारम्भ होगा अवश्य क्योंकि "पशु-प्रकृति से विचारशील और आकांक्षाशील मानव का जन्म उस दिव्य विकास का केवल एक अस्पष्ट प्रारम्भ तथा सुदूर आश्वासन था।"

मानव-इतिहास का स्वरूप

श्री अरविन्द ने मानव-इतिहास को मानवता व मानव-आत्मा में परमात्मा की अधिकाधिक अभिव्यक्ति के घटना-क्रम के रूप में देखा है। भागवती शक्ति 'काली' ही उपयुक्त व्यक्तियों को अपना यंत्र बनाकर थोड़े या अधिक काल के लिए उनसे अपनी योजना के अन्तर्गत कार्य लेती है। जब तक व्यक्ति से काली काम लेना उपयुक्त समझती है, वह मानवों के तेजस्वी नेता के रूप में दिखाई देता है किन्तु जैसे ही काली अपनी शक्ति उनसे वापस ले लेती है, वे तेजस्वी दिखाई देने वाले व्यक्ति, सामान्य व्यक्ति मात्र रह जाते हैं। काली के यंत्र रूप में बने रहने के लिए समर्पणभाव से युक्त दिखाई देना एक आवश्यक गुण है, अहं-भाव का तीव्र होना ही पतन का कारण बनता है। विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि श्री अरविन्द भी ऐतिहासिक नेता को युग-निर्माता के रूप में महत्त्व-

पूर्ण मानते हैं और कारलायल इत्यादि अनेक पाश्चात्य विचारक भी किन्तु उनके दृष्टिकोण में एक विशेपता है। वे नेता को अपनी स्वयं की शक्ति के कारण महान नहीं मानते, अपितु भागवती शक्ति से मिली शक्ति के कारण और इस कारण उनकी दृष्टि में इतिहास भागवती योजना से चलने वाला एक घटनाक्रम मात्र है। यह भागवती शक्ति ही युग-चेतना के रूप में भी कार्य करती है। फ्रांसीसी क्रान्ति को भी श्री अरविन्द ने काली का कार्य कहा था और भारतीय राष्ट्रवाद के अभ्युदय को भी। भारतीय स्वातंत्र्य आन्दोलन के प्रबल नेता के रूप में उन्होंने राष्ट्रवाद को अमर वताया था क्योंकि वे उसे ईश्वरीय योजना का अंग देखते थे। ब्रिटिश अत्याचारों को भी उन्होंने "ईश्वर का हथौड़ा" कहा था जो भारत को एक स्वतंत्र और तेजस्वी राष्ट्र के रूप में गढ़ने के लिए कार्यशील था। इतिहास को इस प्रकार एक निर्दिष्ट रूप में देखना, 'चुने हुए व्यक्तियों' और 'चुनी हुई जाति' के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना, विश्व-युद्ध को दैवी और आसुरी शक्तियों के संघर्ष के रूप में देखना इत्यादि श्री अरविन्द के इतिहास-दर्शन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

श्री अरविन्द ने यद्यपि मानव-इतिहास को भागवती योजना के अन्तर्गत स्वीकार किया है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे व्यक्ति और विचार के भारी प्रभावों को कम आँकते हैं। वस्तुत: वे उन्हें अन्य अनेक विचारकों की तुलना में अधिक महत्त्व देते हैं। वस इतना ही है कि पाश्चात्य विचारक ठीक क्षण पर ठीक व्यक्ति के विश्व-मंच पर आगमन को 'संयोग' कहते हैं किंतु श्री अरविन्द उसे 'संयोग' नहीं मानते, ईश्वरीय योजना कहते हैं। श्री अरविन्द के शब्दों में—"मानव के विना विशिष्ट क्षण एक नष्ट अवसर मात्र है, विशिष्ट क्षण के विना मनुष्य एक निष्क्रिय वल मात्र है। दोनों का संयोग राष्ट्रों का भाग्य परिवर्तित कर देता है और जगत का सन्तुलन उसके द्वारा परिवर्तित हो जाता है जिसे स्थूल दृष्टि 'संयोग' कहती है।"

विचारों का महत्त्व वताते हुए श्री अरविन्द ने अपने एक भाषण में कहा था—"विचार ही जड़तत्त्व में अभिव्यक्त होता है तथा शरीरों को ग्रहण करता है। यह मानवजाति के जीवन के विपय में भी सत्य है, यह राजनीति में, राष्ट्र की उन्नति और जीवन में सत्य है। विचार ही भौतिक संस्थाओं को रूप प्रदान करता है। विचार ही प्रशासनों और सरकारों को वनाता और विगाड़ता है।"

सामाजिक विकास का आदर्श विधान

व्यक्ति और समाज के उचित सम्बन्ध की खोज मनीपियों ने सदैव करने का प्रयत्न किया है। कहीं उसका परिणाम 'समाजवाद' में प्रकटा है जहां व्यक्ति अपना व्यक्तिगत अस्तित्व खोकर समाज की सत्ता के लिए ही जीता और मरता है और कहीं उसका परिणाम 'जनतंत्रवाद' में प्रकटा है जहां व्यक्ति समाज के

लिए नहीं अपने लिए जीता है, समाज की सत्ता व्यक्ति की स्वतंत्रता की तुलना में गौण है। श्री अरविन्द के अनुसार "सच्चा अनुभववाद हमको यही सिखाता है। प्रथम हम अपने अहं अथवा अपनी सत्ता के अंगों से अधिक उच्च हैं, आत्मा हैं। दूसरे, हम अपने जीवन और अपने अस्तित्व में केवल स्वयं ही नहीं हैं अपितु सर्वात्मक भी हैं।···भारत का यह प्राचीन अनुसंधान है कि हमारा वास्तविक 'स्व' एक परम सत्ता है और यही हमारी सच्ची आत्मा है और यहां हमारा कार्य उसकी ही खोज करना और सचेतन रूप में वही वन जाना है। दूसरी वात यह कि वह परम सत्ता सवके अन्दर एक ही है, व्यष्टि और समष्टि में वही अभिव्यक्त हो रही है। दूसरों के साथ अपनी एकता को स्वीकार तथा अनुभव करके ही हम अपनी सच्ची आतमसत्ता की पूर्ण परितृप्ति कर सकते हैं।

श्री अरविन्द-दर्शन में व्यक्ति और समाज के मध्य स्थित विभिन्न समुदायों का महत्त्व भी सूक्ष्म दृष्टि से देखा गया है। प्रत्येक समुदाय चाहे वह धर्मपंथ हो, श्रेणी हो, संस्था हो, संघ हो या मानव-समाज ही क्यों न हो, अन्ततः एक मध्य की स्थिति मात्र है। इनमें से प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिगत विकास के लिए आवश्यक तो है परंतु यह वात ध्यान में रखने की है कि यह उसका अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकते क्योंकि "वह न तो सामन्त, व्यापारी, योद्धा, पुरोहित, विद्वान, कलाकार, किसान अथवा कारीगर मात्र है और न केवल कोई धर्मावलम्वी, दुनियादार अथवा राजनीतिज्ञ ही है, न ही वह अपनी राष्ट्रीयता में सीमित हो सकता है··· यदि वह अपने एक भाग में राष्ट्र का है तो अपने दूसरे भाग में वह उससे आगे वढ़कर मानवता से सम्बन्धित हो जाता है। उसमें एक ऐसा भाग भी है जो मानवता तक ही सीमित नहीं है और वह सवसे वड़ा भाग है। उस भाग में वह भगवान से, सव प्राणियों के जगत से तथा भविष्य के देवताओं से सम्बन्धित है।"

श्री अरविन्द ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि प्रत्येक व्यक्ति को, प्रत्येक समुदाय को, प्रत्येक राष्ट्र को अपने स्वाभाविक विकास की पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिए। जैसे राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों अथवा विश्व से अपने अस्तित्व की रक्षा का अधिकार है, वैसे ही राष्ट्र के लिए भी यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति के अस्तित्व का सम्मान करे, उसे स्वाभाविक विकास का पूर्ण अवसर दे और उसके व्यक्तित्व को नष्ट न करे, न उस पर आघात करे। "जिस प्रकार व्यक्तियों का अपने अन्दर से उन्मुक्त विकास समुदाय की वृद्धि तथा पूर्णता के लिए सर्वोत्तम परिस्थिति है, उसी प्रकार समुदाय अथवा राष्ट्र का भी अपने अन्दर से उन्मुक्त विकास मानव जाति की वृद्धि एवं पूर्णता के लिए सर्वोत्तम अवस्था है।"

व्यक्ति के विकास का आदर्श विधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—"इस प्रकार व्यक्तित्व का अपने अन्दर से उन्मुक्त विकास सिद्ध करना ही व्यक्ति का विधान है, परन्तु साथ ही दूसरों के उसी प्रकार के उन्मुक्त विकास का सम्मान

करना, उसमें सहायता देना और उनसे सहायता प्राप्त करना भी इसी विधान में सम्मिलित है। अपने जीवन को समाज के जीवन के साथ सुसमन्वित कर देना और वृद्धि एवं पूर्णता के लिए एक विकास-शक्ति के रूप में स्वयं को उँडेल देना भी उसका विधान है।"

श्री अरविन्द ने आगे राष्ट्र का विधान बताते हुए कहा है—"इसके समान ही राष्ट्र एवं समुदाय का भी यह विधान है कि वह व्यक्ति के विकास में सहायता करते हुए तथा व्यक्ति से पूर्ण लाभ उठाते हुए, परन्तु साथ ही दूसरे राष्ट्रों एवं समुदायों के उन्मुक्त विकास का सम्मान करते हुए, उनकी सहायता करते हुए और उनसे सहायता प्राप्त करते हुए अपने अन्दर के उन्मुक्त विकास द्वारा अपने सम्मिलित जीवन में पूर्णता लाए। साथ ही, मानव समाज के जीवन के साथ अपने जीवन को सुसमन्वित कर देना और वृद्धि एवं पूर्णता की साधक शक्ति के रूप में स्वयं को मानवता पर उँडेल देना भी उसके विधान का एक भाग है।" इसी क्रम में मानव-जाति का विधान बताते हुए वे कहते हैं—"मानव-जाति का विधान यह है कि वह स्वयं में भगवान की सिद्धि और अभिव्यक्ति के लिए समस्त व्यक्तियों, राष्ट्रों एवं समुदायों के उन्मुक्त विकास और संसिद्धियों का पूर्ण लाभ उठाते हुए, अपने विकास की ऊर्ध्वगति का अनुसरण करे और उस दिन के लिए कार्य करती जाए जब वह केवल आदर्श में ही नहीं, वास्तविक रूप में भी एक भागवत परिवार बन सकेगी।" श्री अरविन्द के अनुसार समाज को व्यक्तियों और समुदायों की स्वतंत्रता का ध्यान तब भी रखना होगा—"परन्तु अपना एकीकरण कर लेने के पश्चात भी उसे अपने व्यक्तियों और अपने अन्तर्गत समुदायों के उन्मुक्त विकास एवं कर्म का सम्मान करना होगा, उनकी सहायता करनी होगी, उनसे सहायता प्राप्त करनी होगी।"

निस्सन्देह यह सामाजिक विकास का आदर्श विधान है और वह 'स्वर्णदिन' होगा जब विश्व इसे कार्यान्वित करेगा।

मानव-एकता

विश्व को एक करने के लिए साम्राज्यों का राजनीतिक प्रयोग नितान्त असफल रहा है। आजकल जिस अन्तर्राष्ट्रीयता की चर्चा की जाती है, वह भी मात्र एक राजनीतिक और एकांगी कल्पना है अतः उससे ऊंचा मानव-एकता का आदर्श श्री अरविन्द ने प्रस्तुत किया है जो आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि पर आधारित होने के कारण सर्वांग दर्शन है। आज मानव-एकता के आदर्श की चर्चा अवश्य की जाती है परन्तु इतने से ही उसे साकार नहीं किया जा सकता। केवल बाहरी परिस्थितियों से नहीं, अपितु मानव के मन और हृदय की वास्तविक तैयारी से ही इस विषय में सफलता मिल सकती है। "मनुष्य जाति की एकता प्रकृति की योजना

का अन्तिम अंग है और यह सिद्ध होकर ही रहेगा। परन्तु यह होगी उन अवस्थाओं में और सुरक्षा के उन साधनों के साथ जो जाति की जीवन-शक्ति के मूल को अक्षुण्ण रखेंगे तथा उसकी एकता को विविधता से भरपूर कर देंगे।"

श्री अरविन्द पिछले समुदायों—राज्यों, साम्राज्यों आदि—की अपूर्णता की मीमांसा करते हुए यह बताते हैं कि प्रकृति की कार्य शैली में व्यष्टि-समष्टि-समन्वय की प्रवृत्ति महत्त्वपूर्ण है। "पूर्ण समाज वह होगा जो व्यक्ति की परिपूर्णता का पूरी तरह समर्थन करेगा; व्यक्ति की पूर्णता तब तक अधूरी रहेगी जब तक वह उसके समाज की समष्टि की तथा अन्ततः विशालतम मानव-समष्टि, संगठित मानव-समाज की पूर्णता की अवस्था को लाने में सहायक नहीं होती।"

श्री अरविन्द मानव-एकता पर विचार करते हुए एक महत्त्वपूर्ण बात यह कहते हैं कि जैसे "राष्ट्र की इकाई का विकास, निश्चित ही, आन्तरिक आवश्यकता और भावना के कारण परन्तु राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों, पद्धतियों और साधनों के माध्यम से हुआ।" उसी प्रकार मानव-एकता का क्रम भी रहेगा। आज मानव-जाति न तो बौद्धिक व भावनात्मक दृष्टि से और न आर्थिक, राजनीतिक आदि शक्तियों को देखते हुए, मानव-एकता अर्थात् मनोवैज्ञानिक एकता का रूप ले सकेगी। अभी तो वह केवल एक दूर की संभावना मात्र मानी जाने लगी है। यह तो मानव-एकता के आदर्श की प्रारंभिक अवस्था ही है। बुद्धिजीवियों के तदर्थ प्रयासों का भी तत्काल परिणाम नहीं हो सकता। चूंकि मानव-मन में इस एकता के लिए न कोई सहज प्रेरणा है, न तीव्र भावना, इस कारण "अन्तर्राष्ट्रीय एकता के लिए जो भी व्यवस्था की जाएगी, वह राष्ट्रीय अहं-भावों, तृष्णाओं, लालसाओं और दावों के पुराने आधार पर ही आगे बढ़ेगी और उन्हें केवल उतना ही अनुशासित करने का यत्न करेगी जितना अत्यंत विध्वंसक संघर्षों को रोकने के लिए पर्याप्त होगा।" और "यदि राष्ट्रीय अहं-भाव विद्यमान है, संघर्ष के साधन उपस्थित हैं तो उसके कारणों, अवसरों और बहानों का भी अभाव नहीं होगा।" वास्तव में राष्ट्रीय लोलुपता और अहं-भाव के रहते हुए सेना को कम कर देना आदि युद्ध रोकने में व्यर्थ होंगे। इसके समर्थन में श्री अरविन्द यूरोपीय युद्ध का उदाहरण देते हैं—"यूरोपीय संघर्ष ने यह सिद्ध कर दिया है कि युद्ध काल में देश को शस्त्र बनाने का एक विशाल कारखाना बनाया जा सकता है और राष्ट्र को अपने सारे शांतिपूर्ण पुरुष-समाज को सेना में बदल सकता है।"

श्री अरविन्द ने इस बात पर भी विचार किया है कि जैसे राष्ट्र ने कानून बनाकर परिवारों के झगड़ों की असभ्य विधियों को समाप्त कर दिया है, वैसा अन्तर्राष्ट्रीय समाज में संभव है या नहीं। और उनका निष्कर्ष है कि ऐसा अभी संभव नहीं है। श्री अरविन्द कहते हैं कि बहुत अच्छा होता यदि "समस्त मनुष्य जाति के आदर्श समुदाय 'अन्तर्राष्ट्रीय समाज या राज्य' से भी राष्ट्रीय स्वाधीनता

एवं स्वतंत्र राष्ट्रीय विकास और आत्मसाक्षात्कार को मानव-जाति की एकता और संयुक्त प्रगति व पूर्णता के साथ उत्तरोत्तर संगति प्राप्त करते जाना" संभव होता। किन्तु उसके लिए विश्व के विविध राष्ट्रों व राज्यों के नेताओं व शासकों में जिन नैतिक उच्चता आदि गुणों की आवश्यकता है, उनके अभाव में यह संभव ही नहीं है।

मानव-एकता के आदर्श के विवेचन में यह महत्त्वपूर्ण बात श्री अरविन्द ने कही है कि मानव-जाति की एकता वास्तव में एकरूपता से भिन्न है। वे एकरूपता का विरोध करते हैं क्योंकि "एकरूपता जीवन का नियम नहीं है।" विभिन्नता आवश्यक है क्योंकि जीवन उसी के आधार पर स्थित है। वे अतिकेन्द्रीकरण को "जीवन की अस्वस्थ प्रणाली" घोषित करते हैं। उनके अनुसार सच्ची व्यवस्था अन्दर से प्रकट होनी चाहिए, ऊपर से आरोपित नहीं। मनुष्य जाति की सच्ची एकता तभी होगी जब वह स्वतंत्र समूहों पर आधारित हो जो स्वयं स्वतंत्र व्यक्तियों के स्वाभाविक संगठन हों।

श्री अरविन्द 'अन्तर्राष्ट्रीयता' के यूरोपीय विचार को, जो मात्र बौद्धिक तथा अमनोवैज्ञानिक विधियों व व्यवस्थाओं को कार्यान्वित करने वाला है, 'मानव-एकता' के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत से बहुत निम्न कोटि का तथा अवांछनीय मानते हैं। वे इस अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध हैं जो "मानव-मन और मानव-जीवन के राष्ट्रीय विचार व रूप को अतिक्रान्त करने का तथा उसे मानव-जाति का वृहत्तर समन्वय सिद्ध करने के हित में नष्ट करने का प्रयत्न" है। यह मानव-एकता का सच्चा आदर्श नहीं हो सकती।

श्री अरविन्द-विचार-दर्शन में "एक आध्यात्मिक आकांक्षा और आध्यात्मिक जीवन-यापन के नियम के रूप में" मानवता का धर्म ही मानव-एकता के आदर्श को प्राप्त करा सकता है। मानवता के धर्म का "मूल विचार यह है कि मानवता वह देवत्व है मनुष्य को जिसकी पूजा करनी चाहिए, सेवा करनी चाहिए, और यह भी कि मनुष्य और मनुष्य-जीवन का सम्मान, उसकी सेवा और उन्नति मानवता की भावना का प्रधान कर्तव्य और प्रधान लक्ष्य है। किसी भी प्रतिमा को, न राष्ट्र, न राज्य, न कुटुम्ब और न ही किसी वस्तु को, इसका स्थान लेना चाहिए। वे केवल वहीं तक सम्मान के पात्र हैं जहां तक वे मानव-आत्मा की प्रतिमूर्तियां हैं··· एवं उसकी आत्माभिव्यक्ति में सहायक हैं।···जाति, धर्म, वर्ण, राष्ट्र, पद और राजनीतिक अथवा सामाजिक प्रगति के सब भेदों को भुलाकर मनुष्य, मनुष्य को पवित्र माने यह मानवता का धर्म जब मनुष्य-मनुष्य के जीवन में उतर आएगा, तभी मानव-एकता स्थायी रूप प्राप्त कर सकेगी। मानवता का धर्म वस्तुतः आध्यात्मिक एकता का सन्देश देने वाला महान तत्त्व है और "आध्यात्मिक एकता ही मनुष्य-जीवन के उच्चतर आदर्श का आधार होगा, क्योंकि यह एक ऐसी

मनोवैज्ञानिक एकता उत्पन्न कर देगा जो किसी बौद्धिक या बाह्य एकरूपता पर आधारित नहीं होगी…वरन एक स्वतंत्र आन्तरिक विविधता तथा एक स्वतंत्र रूप की विविधापूर्ण बाह्य अभिव्यक्ति द्वारा अपनी सुरक्षित एकता को समृद्ध बनाने के लिए सदैव तैयार रहेगी।"

जनतंत्र

श्री अरविन्द हृदय से अत्यंत उदार थे और जनतांत्रिक प्रवृत्तियां उनमें सहज ही देखी जा सकती थीं। किन्तु वे विश्व में जनतंत्र के राजनीतिक प्रयोगों की असफलता से परिचित थे और कभी-कभी उस पर संकेत भी किया करते थे। एक बार उन्होंने कहा था—"यूरोप में उन्होंने जनतंत्र के लिए सदा प्रयत्न किया है। वास्तविक जनतंत्र सदैव असफल रहा है और असफल इसलिए रहा है कि यह मानव-स्वभाव के ही विपरीत है। कुछ लोग ऐसे हैं जो शासन करेंगे ही।" आगे उन्होंने कहा था—"तथ्यों से मुख नहीं मोड़ना चाहिए। जनतंत्रों में भी वे ही व्यक्ति शासन करते हैं, ग्रामीण नहीं करते, यह तो हर एक अच्छी तरह जानता है। केवल वे लोग उनके नाम पर शासन करते हैं और इससे वे कभी-कभी तो और भी स्वतंत्र व लापरवाह हो जाते हैं।" जनतंत्र की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि उसकी आड़ में पूंजीपति शासन करता है या केंद्रीय मंत्री। संसदीय समाजवादी भी आधा बुर्जुआ बन जाता है।

समाजवाद-साम्यवाद

श्री अरविन्द की समाजवाद-साम्यवाद सम्बंधी मीमांसा महत्त्वपूर्ण है। पूंजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप जन्मे समाजवाद का सिद्धान्त है 'परिपूर्ण संगठित राज्य का आदर्श'। समाजवाद समाज में व्याप्त वर्तमान असमानता को दूर करने के लिए समाज के प्रतिस्पर्द्धात्मक ढांचे को बदलकर सहयोगात्मक रूप की स्थापना करना चाहता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति में समाजवाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण कर लेता है। 'जनतंत्रीय समाजवाद' के नाम से प्रसिद्ध प्रणाली में भी केवल शासक चुनने की स्वतंत्रता तो दी जाती है किंतु अन्य स्वतंत्रताओं का हनन होता ही है।

श्री अरविन्द के अनुसार समाजवाद की (या साम्यवाद की) सबसे बड़ी भूल है "मानव सत्ता की जटिलता की अवहेलना करना और उस जटिलता का जो अर्थ है उसकी अवहेलना करना।" मानव-आत्मा और उसके परमस्वातंत्र्य की उपेक्षा करने वाली कोई प्रणाली भी सफल नहीं हो सकती। समाजवाद ने सम्पूर्ण मानव-समाज को एक समूह-शरीर या समूह-मन के रूप में ही देखा है समूह-आत्मा के रूप में नहीं। परिणामस्वरूप शासन-यंत्र को चलाने वाले थोड़े से लोगों को यह

अधिकार मिलना कि वे अपने निर्णयों को सभी व्यक्तियों पर (उनकी स्वतंत्र सत्ता, क्षमता, आवश्यकता, विकास इत्यादि का ध्यान रखे विना) थोप दें तो मानव-विकास को हानि पहुंचेगी ही।" मानसिक प्राणी मानव को यदि अपने मन और संकल्प का प्रयोग करने—एक संकुचित स्थिर सीमा को छोड़कर—की अनुमति न दी जाए तो उसका विकास रुक जाएगा और पशु व कीट के समान वह स्थिर प्राणी मात्र रह जाएगा।"

श्री अरविन्द के अनुसार महत्त्वपूर्ण वात यह समझ लेना है कि विश्व को परिष्कृत करने, आदर्श या पूर्ण मानव-समाज वनाने की वात न तो कोई तत्त्वदर्शन कर सकता है, न कोई राजनीतिक प्रणाली या आर्थिक सुधार जैसी वाह्य विधियां। पूर्ण मानव-समाज का निर्माण वे लोग कैसे कर सकते हैं जो स्वयं अपूर्ण हैं! समाज और शासन-यंत्र द्वारा नहीं अपितु "अन्तरात्मा की पूर्णता द्वारा ही वाह्य परिवेश पूर्ण किया जा सकता है।" और मनुष्य की पूर्णता के लिए यह अनिवार्य है कि वह परमात्मा को समर्पित हो जाए।

श्री अरविन्द के शब्दों में—"समाज का कम्युनिस्ट सिद्धान्त तात्त्विक रूप में व्यक्तिवादी सिद्धान्त से उतना ही श्रेष्ठ है जितना भ्रातृत्व, ईर्ष्या व पारस्परिक हत्या से किंतु समाजवाद की जितनी भी व्यावहारिक योजनाएं यूरोप में आविष्कृत हुई हैं, वे मात्र दासता हैं, अत्याचार हैं, कारागार हैं।" और "यदि पृथ्वी पर साम्यवाद की स्थापना कभी सफलतापूर्वक हो पाई तो वह आत्मा के भ्रातृत्व और अहंभाव की मृत्यु के आधार पर ही होगी। ज़वर्दस्ती का साहचर्य और मशीनी वंधुत्व का परिणाम तो व्यापक विफलता ही होगा।"

यूरोपीय जीवन प्रभावी किन्तु सजीव नहीं

श्री अरविन्द यूरोपीय जीवन को शक्तिशाली और प्रभावी तो मानते थे, किन्तु सजीव नहीं। पश्चिमी समाज-जीवन स्वार्थ और अधिकार की वृत्ति पर आधारित है और इस कारण वहां तर्कबुद्धि को विशेष महत्त्व प्राप्त है। "तर्कबुद्धि मनुष्य को वर्गीकरण तथा मानसिक रचना की कठोर विधियां तथा अपने स्वार्थों व अधिकारों को न्यायसंगत करने के लिए सिद्धान्त देती है।" दूसरी ओर विज्ञान से पाश्चात्य मनुष्य को "वांछित दक्षता, वल और शक्ति" की प्राप्ति हो जाती है। इससे यूरोपीय मन यह सहज ही मान लेता है कि उसके जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति उसको होगी ही, किन्तु यह एक वहुत वड़ा भ्रम है। वहां समाज-जीवन में एक-रसता का अभाव रहता है, और परस्पर एक ही सृष्टि के विविध अंग होने का भाव नहीं रहता। परिणामस्वरूप शोषण और वर्ग-संघर्ष होते हैं। श्री अरविन्द के शब्दों में—"···संगठित तथा प्रभावी होने पर भी यूरोपीय जीवन सजीव नहीं है। मानव सम्वन्धी उसकी दृष्टि अपूर्ण दृष्टि है और जो आदर्श वह मानव के

समक्ष रखती है वह अपूर्ण आदर्श है। इसीलिए वहां वर्ग-संघर्ष तथा अधिकारों के लिए संघर्ष होते हैं जो तर्कबुद्धि से शासित होते हैं।" फिर यूरोपीय जीवन की अत्यधिक शक्ति का रहस्य क्या है ? श्री अरविन्द के शब्दों में—"यूरोपीय जीवन बहुत शक्तिशाली है क्योंकि अपने जीवन का सम्पूर्ण बल अपने सदस्यों के सहयोग से एक साथ किसी कार्य में लगा सकता है।"

शासन और स्वातंत्र्य

साधारणतया यह समझा जाता है कि शासन और अत्याचार का साथ स्वाभाविक है। शासन कभी भी सभी मनुष्य तो कर ही नहीं सकते, थोड़े से व्यक्ति या एक वर्ग ही करेगा किन्तु यदि उसकी दृष्टि शुद्ध हो तो वह शोषण न करे, ऐसा हो सकता है। "शासन तो तब व्यर्थ और बुरा हो जाता है जब एक वर्ग या एक राष्ट्र दूसरे को दबाता है और उस पर अपने लाभ के लिए शासन करता है और उस वर्ग या राष्ट्र को स्वधर्म—अर्थात अपने जीवन-सिद्धान्त—के अनुसार नहीं चलने देता।" प्राचीन भारत में स्वधर्म के अनुसार जीवन-यापन की स्वतंत्रता प्रत्येक मनुष्य व समुदाय को रहा करती थी। तब "हर ग्राम, हर नगर का अपना संगठन होता था जो राजनीतिक नियंत्रण से पूर्ण मुक्त होता था और उसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होता था—स्वतन्त्र होता था परिवर्तन करने के लिए तथा अपने विकास के लिए दूसरी दशा ग्रहण करने को।" यह ठीक है कि इस व्यवस्था में एक अभाव यह रहा कि बाह्य आक्रमण को रोकने की क्षमता नहीं रही और भारत को परतंत्र होना पड़ा किन्तु इससे उस व्यवस्था की मूल भावना का महत्त्व कम नहीं होता। भारत स्वतंत्र होने पर अपने जीवन को किस प्रकार ढाले, इसका विचार भारतीय नेताओं को अपनी राष्ट्रीय प्रकृति के आधार पर करना चाहिए था किन्तु वे रूस की क्रान्ति से ऐसे मोहग्रस्त हो गए कि कर्तव्य भूल बैठे। श्री अरविन्द ने ६ अप्रैल १९२३ को अपने शिष्यों से वार्तालाप में इस दशा का संकेत किया था—"अब समस्या यह है कि देश का जीवन कैसा बनाया जाए। मैं एक अर्थ में स्वयं साम्यवादी हूं किन्तु मैं रूसी विधि से सहमत नहीं हो सकता। यह पूछा जा सकता है कि अन्ततः रूस ने क्या निर्मित किया है। हमारे भारत के वर्तमान कार्यकर्ताओं में भी इस निश्चित विचार का अभाव है कि वे क्या करना चाहते हैं और कैसी वस्तु चाहते हैं।"

तत्त्व-दर्शन

क्या श्री अरविन्द दार्शनिक थे ?

श्री अरविन्द स्वयं को कभी दार्शनिक मानने को तैयार नहीं हुए। वे यह तो स्वीकार करते थे कि उन्होंने 'दर्शन' लिखा है क्योंकि जब 'आर्य' पत्रिका को चलाने का भार अन्ततः उन्हीं पर आ पड़ा तो अपने योग के अनुभव को बौद्धिक रूप में उन्होंने सहज रूप में प्रस्तुत कर दिया। उनके कथनानुसार 'आर्य' पत्रिका का दायित्व उन्होंने इसलिए ग्रहण किया था कि उनका विचार था कि "योगी कोई भी कार्य सफलतापूर्वक कर सकता है।" कुछ भी हो, श्री अरविन्द दार्शनिक तो थे किन्तु उस अर्थ में नहीं, जिस अर्थ में दर्शन के गहन विषय छात्रों को पढ़ाने वाले 'प्राध्यापक दार्शनिक' होते हैं अथवा व्यक्ति, विश्व, भगवान इत्यादि के विषय में तार्किक प्रकार से बौद्धिक ढाँचे खड़े करने वाले 'पाश्चात्य दार्शनिक' होते हैं या जिस अर्थ में राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि में से एक या अनेक क्षेत्रों के 'विचारक दार्शनिक' होते हैं। किन्तु श्री अरविन्द दार्शनिक नहीं थे यह स्वीकार करने को विश्व कैसे तैयार हो सकता है जब उन्होंने 'शुद्ध विचार' की दृष्टि से और 'जीवन दृष्टि' के विचार से महत्त्वपूर्ण सामग्री एक नहीं, अनेक कृतियों में प्रस्तुत की है। वस्तुतः भारतीय परम्परा तो श्री अरविन्द जैसे मनीषियों को ही दार्शनिक स्वीकार करती है जिन्होंने पहले परम तत्त्व का योग-पद्धति से दर्शन अर्थात साक्षात्कार कर लिया और तब अपने तत्त्व-दर्शन को बौद्धिक रूप में सँजो दिया। श्री अरविन्द कृत 'विकास-प्रक्रिया सम्बन्धी विवेचन, अज्ञान के मूल की व्याख्या, मानव-व्यक्ति के उच्चतर मनोविज्ञान की महती सामर्थ्य अर्थात अति-मानस इत्यादि का निरूपण, राष्ट्रात्मा का प्रतिपादन इत्यादि ऐसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं जिन्हें विश्व को उनका महान योगदान कहा जाएगा। इसी प्रकार उनका योग-समन्वय का सिद्धान्त साधना के क्षेत्र में एक नयी वस्तु है और यह उनके सर्वांग दर्शन का ही व्यावहारिक रूप है। इस प्रकार श्री अरविन्द दार्शनिक भी हैं और योगी भी और निस्सन्देह पहले वे योगी हैं, पीछे दार्शनिक।

सर्वाङ्ग दर्शन

श्री अरविन्द अपने दर्शन को 'सर्वांग दर्शन' या 'पूर्ण दर्शन' कहते हैं। वे इहलौकिकता और पारलौकिकता दोनों को स्वीकार करके अर्थात सर्वांगीण विचार करके चले और दोनों में से एक पर अधिक वल देने पर या तो वे भौतिकवादी अधिक हो जाते या संन्यासवादी। उनके लिए जड़ और चेतन, इहलौकिक और पारलौकिक सभी कुछ ब्रह्म ही है और उनका दर्शन सच्चा अद्वैती वेदान्त है जिसमें 'माया' भी ब्रह्म ही है, ब्रह्म का विरोध भी ब्रह्म ही है। एक स्थान पर वे कहते हैं—"मेरे लिए तो सब कुछ ब्रह्म ही है और मैं सर्वत्र भगवान को ही देखता हूं। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह इहलौकिकता को त्याग कर पारलौकिकता का ही वरण करे, और यदि उसे इस चुनाव से शान्ति प्राप्त होगी तो वह वड़ा ही सौभाग्यशाली है। हां, स्वयं मुझे शान्ति प्राप्त करने के लिए ऐसा करने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई।" और इसी के अनुरूप उन्होंने जिस योग का मार्ग दिखाया, वह भी व्यक्तिगत मोक्ष-प्राप्ति का योग न होकर 'पृथ्वी पर दिव्य जीवन की स्थापना' का योग है। अलीपुर जेल में उन्होंने 'सव कुछ वासुदेव' होने का जो अनुभव किया था, उसने उन्हें उपनिषदों के सत्य 'अहं ब्रह्मास्मि' को 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' के साथ मिलाकर समझने का महत्त्वपूर्ण सूत्र प्रदान किया। वस्तुतः इस प्रकार उनका तत्त्वदर्शन एक कर्मयोगी का तत्त्वदर्शन है जो दिव्य कर्म की साधना का मार्ग प्रशस्त करता है।

ब्रह्म

श्री अरविन्द के विचार-दर्शन व साधना का केन्द्रविन्दु सर्वशक्तिमान पूर्ण ब्रह्म है जो उपनिषदों में 'सत्य, ज्ञान और अनंत' कहा गया है और जिसे गीता ने "समस्त भूतों में अविभक्त है और फिर भी विभक्त जैसा है" कहा है। वह निरपेक्ष और अनंत होने के मन के लिए अनिर्देश्य है अर्थात मन उसका निश्चित स्वरूप नहीं जान सकता। परम अचिंत्य और परम अगम्य ब्रह्म को ही मानव पूर्ण सच्चिदानन्द रूप में समझ पाता है। चिरकाल से मानव-मन में जीवन की परिपूर्णता, जीवन से अतीतता, जीवन्मुक्ति इत्यादि के रूप में जो आकांक्षा रही है, वह इसी सच्चिदानन्द की खोज है—"...सच्चिदानंद ही वह अज्ञात, सर्वव्यापी अपरिहार्य तत्त्व है जिसे मानव-चेतना, जाने या अनजाने, नित्य खोज रही है।"

पुनः यह ब्रह्म एक साथ ही निश्चेष्ट और गतिशील है। श्री अरविन्द के शब्दों में—"...सनातन स्थिरता और सनातन गतिशीलता दोनों ब्रह्म के लिए यथार्थ हैं और वह इन दोनों से अतीत है, अचल और सचल ब्रह्म दोनों एक ही परमार्थ तत्त्व, यथार्थ तत्त्व हैं।" यहां पर यह शंका उठाना व्यर्थ है कि एक ही

तत्त्व अचल और सचल दोनों कैसे हो सकता है क्योंकि ब्रह्म विश्व के नियमों से अतीत है और ये पारस्परिक विरोध भी क्या हैं ? "इन विरोधों को हमारे मन ने केवल अपनी सुविधा के लिए बनाया है, वे हमारे बनाए हुए अविभक्त के भाग हैं ।" महत्त्व की बात यह जान लेना है कि एक ही परमार्थ तत्त्व के दो पक्षों के अनुभव परस्पर विरोधी दिखाई देते हों, तो भी वे दोनों ही प्रामाणिक भी हैं और मूलतः अविरोधी भी क्योंकि ब्रह्म वह परमतत्त्व है जिसमें सभी रूप, सभी तत्त्व मिलकर एक हो जाते हैं ।

ऐसे विरोधों में से एक सत् और असत् का विरोध भी है और ये दोनों भी ब्रह्म में एक रूप हो जाते हैं । "समस्त विश्व-सत्ता के स्वतन्त्र आधार के रूप में अज्ञेय ब्रह्म की आत्ममयी कृति ही शुद्ध सत् है । समस्त विश्वसत्ता से इसकी स्वतन्त्रता के ठीक विपरीत स्वीकृति का नाम असत् है···।" तात्पर्य यह है कि यद्यपि चेतना के सभी रूप अज्ञेय ब्रह्म के ही विभिन्न रूप हैं तथापि वह "समस्त अभिव्यक्ति से या किसी एक अभिव्यक्ति से" सीमित नहीं है ।

निस्सन्देह "जब हम अपनी दृष्टि को सीमित व क्षणिक स्वार्थों के साथ इसकी अहंकारपूर्ण व्यस्तता से हटा लेते हैं और केवल परमसत्य की खोज करने वाली राग-द्वेष-शून्यतथा कुतूहलपूर्ण दृष्टि से संसार को देखते हैं तो सर्वप्रथम परिणामस्वरूप बोध होता है अनंत सत्ता, अनंत जाति, अनंत क्रिया की एक ऐसी अपार शक्ति का, जो असीम देश और नित्यकाल में स्वयं को उंडेल रही है ।" श्री अरविन्द अत्यन्त तर्कसम्मत ढंग से बताते हैं कि इससे शुद्ध सत् का तथ्य तो सिद्ध होता ही है, चित्-शक्ति की भी सत्ता सिद्ध होती है । विज्ञान भी भौतिक तत्त्व का विश्लेपण करते-करते शक्तितत्त्व तक पहुंचा है जो विश्व की गति का कारण है । सत् में गति का उत्पन्न होना कैसे और क्यों संभव हुआ, इसकी क्या संभावनाएं हैं इत्यादि प्रश्नों को समाधान वेदान्त के इस सूत्र में मिलता है कि शक्ति सत् में ही है अर्थात् "शिव और काली, ब्रह्म और शक्ति एक है, दो पृथक्-पृथक् तत्त्व नहीं हैं" और "शक्ति का स्वभाव ही है निश्चलता और गति की दोहरी या एकान्तर क्रम से सामर्थ्य रखना ।" विचार करने पर अन्ततः यही निष्कर्ष निकलता है कि जगत चित्-शक्ति की क्रीड़ा है । ब्रह्म की असीम चित्-शक्ति ही समस्त विश्व का, समस्त पदार्थों का, सृजन, पालन व संहार करती है । वह एक चित्-शक्ति ही विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है और वे विभिन्न रूप वस्तुतः चेतना की अभिव्यक्ति की मात्रा से ही निर्णीत होते हैं ।

इस चेतना-शक्ति के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि चेतना भौतिक तत्त्व का विकार नहीं है, न उसे मस्तिष्क ने उत्पन्न किया है जैसा जड़वादी कहता है । वस्तुतः चेतना शरीर के अंगों का उपयोग तो करती है किंतु उनका परिणाम नहीं है और चेतना ने ही जड़तत्त्व में प्राण और प्राण में मन को विकसित किया

है, अभिव्यक्त किया है। यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि जहां निर्जीवता दिखाई देती है, वहां भी चेतना अवश्य है, पर अपने अल्पतम अभिव्यक्त रूप में और मन से पश्चात भी चेतना का अधिक विकसित रूप होता है, जिसे उपनिषद आदि में 'विज्ञान' और श्री अरविन्द की भाषा में 'अतिमानस' कहा गया है। श्री अरविन्द बताते हैं कि 'एकरूपता अविच्छिन्न है' और "जगत में क्रिया करने वाली शक्ति के सभी रूपों में चेतना का अस्तित्व है।" चेतना का अर्थ भी यहां सामान्य धारणा के अनुसार 'मन' नहीं है अपितु "सत् की ऐसी आत्मचेतन शक्ति है जिसका मध्यवर्ती रूप मन है। मन से नीचे वह आत्मचेतन शक्ति उन प्राणिक और भौतिक गतियों में उतरती है जो हमारे लिए अवचेतन है। मन के ऊपर वह उस अतिमानस में आरोहण कर जाती है, जो हमारे लिए अतिचेतन है। परन्तु सर्वत्र वह एक ही तत्त्व है जो भिन्न-भिन्न रूपों में स्वयं को गठित करता है।...भारतीय ऋषियों की दृष्टि में वही वह चित् है जो शक्ति रूप में जगतों की सृष्टि करता है।" इस प्रकार ब्रह्म में जड़तत्त्व और चेतना-तत्त्व का विरोध भी विलीन हो जाता है क्योंकि जड़तत्त्व चित् का ही एक रूप है, अन्य कुछ नहीं।

विश्व

'स्वयंभू' होने से ब्रह्म 'सत्' है और चित् शक्ति से नित्य युक्त होने के कारण चित् है। ब्रह्म सत् और चित् तो है ही, आनन्द भी है और विश्व में ब्रह्म व्याप्त होने के कारण वह आनंदमय ही है। श्री अरविन्द बताते हैं कि ब्रह्म की तीन अवस्थाएं हैं—उसका व्यष्टि-रूप, समष्टि-रूम और परात्पर रूप। व्यष्टि रूप में वह आत्मा है, समष्टि-रूप में विश्व है और परात्पर रूप में विश्वातीत। विश्व भी ब्रह्म है और व्यक्ति भी ब्रह्म है। अनेकत्व भी ब्रह्म ही है और एकत्व भी। ब्रह्म सत्य है और जगत भी ब्रह्म होने से सत्य ही है, मिथ्या नहीं। हां, यदि वह आनंद रूप प्रतीत नहीं होता तो इसका कारण 'अहं' है।

श्री अरविन्द की दृष्टि में चारों अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—का अनुभव ही समग्र अनुभव है। सामान्य जाग्रतावस्था का अनुभव तो संपूर्ण अनुभव का एक अंश ही है। यह वह मध्यवर्ती अनुभव है जिसके नीचे 'अवचेतन' और ऊपर 'अतिचेतन' स्थित हैं। पूर्ण ज्ञान वही है जो चेतना के सभी स्तरों और अनुभव की सभी सामग्री का रहस्योद्‌घाटन कर सके। श्री अरविन्द ने योग से प्राप्त अपनी इन्द्रियातीत अनुभूतियों का तथा सामान्य अनुभवों का भी गंभीर विश्लेषण करते हुए परमसत् ब्रह्म का जड़तत्त्व के रूप में अवरोहण तथा जड़तत्त्व का प्राण, मन इत्यादि से होते हुए ब्रह्म में आरोहण के रस्यपूर्ण चक्र को उद्‌घाटित किया है। श्री अरविन्द के अनुसार अवरोहण-क्रम के स्तर अनन्त हैं किंतु उनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार है—

१. अव्यक्त परात्पर ब्रह्म
२. सत्
३. चित्
४. आनन्द
५. विज्ञान (या अतिमानस)
६. मन
७. प्राण
८. जड़तत्त्व

मन के विभिन्न स्तरों को उन्होंने इस प्रकार दिखाया है—

अधिमानस
अन्तः प्रज्ञात्मक मन
ज्योतिर्मय मन
उच्च मन
भौतिक मन

प्राण का उपविभाजन इस प्रकार किया है—

मानसिक प्राण
सामान्य प्राण
भौतिक प्राण

और जड़तत्त्व का उपविभाजन इस प्रकार किया है—

प्राणिक जड़तत्त्व
सामान्य जड़तत्त्व
निश्चेतन जड़तत्त्व या असत्

इस प्रकार असत् से लेकर सत् तक व्यक्त ब्रह्म है। सत् भी, असत् भी दोनों अनन्त हैं। चेतना के दोनों छोर अनन्त हैं, अज्ञेय हैं। हमें तो केवल बीच के स्तरों का ही ज्ञान हो सकता है। चेतना का प्रत्येक स्तर एक लोक है जिसके अपने उद्देश्य, कार्य व नियम हैं फिर भी ये लोक पूर्णतया पृथक-पृथक नहीं हैं अपितु एक लोक दूसरे को आच्छादित किए हुए है। चेतना स्वयं ही उच्चतर चेतना को अभिव्यक्त करती है। इसका कारण यह है कि अवरोही क्रम में उच्चतर चेतना उसमें अन्तर्भूत हो चुकी है यद्यपि ऊपर से देखी नहीं जा सकती। चेतना के किसी भी स्तर से आरोहण करते हुए, उच्चतर सोपान की चेतना को स्वयं चेतना जान सकती है और इस प्रकार जड़तत्त्व द्वारा प्राण को जाना जा सकता है और अभिव्यक्त किया जा सकता है, प्राण द्वारा मन को, मन द्वारा उच्चमन को, उच्चमन द्वारा ज्योतिर्मय मन को, ज्योतिर्मय मन द्वारा अन्तःप्रज्ञात्मक मन को, अन्तःप्रज्ञात्मक मन द्वारा अधिमानस को, अधिमानस द्वारा अतिमानस को और अतिमानस द्वारा

सच्चिदानन्द को जाना जा सकता है और अभिव्यक्त किया जा सकता है अर्थात विकास-क्रम में वही बना जा सकता है।

अहं-भाव ही विश्व की पृथक-पृथक सत्ताओं का कारण है। सभी तत्त्वतः सत् तो हैं ही किन्तु उनमें 'अहं' जिस स्तर से स्वयं को सम्बद्ध मान लेता है, सद् ब्रह्म के उसी रूप की प्रतिष्ठा हो जाती है। उदाहरणार्थ जड़तत्त्व में अहंभाव चेतना के जड़रूप के साथ सम्बद्ध है, प्राण में प्राणरूप के साथ और सच्चिदानन्द में शुद्ध चेतना के साथ। मानव जिस चेतना-स्तर पर सामान्यतया स्थित है वह है मनोमय और इस कारण मानव-व्यक्ति का अहंभाव वस्तुतः सद्ब्रह्म के साथ चेतना के जड़रूप, प्राणरूप तथा मनरूप के साथ सम्बद्ध रहता है किन्तु यदि वह स्वयं को सच्चिदानन्द से एकरूप कर सके तो स्वयं ब्रह्म हो जाता है। वस्तुतः चेतना के किसी भी स्तर पर विकास की अनन्त सम्भावना है, ब्रह्म तक होने की सम्भावना है किन्तु यह मानव को ही सौभाग्य प्राप्त है कि वह अपने विकास को अत्यधिक तीव्र गति से स्वयं आयोजित कर सकता है। यदि वह अपने अन्दर के मनोमय लोक में ऊपर के लोकों को प्रबुद्ध कर ले तो वही उसका शीघ्र विकास है क्योंकि सामान्य प्रकृति-योजना में जो विकास बहुत धीरे-धीरे होता रहता है, योग द्वारा वही विकास शीघ्रता से किया जाता है। अतिमानस के जाग्रत होने पर उच्चतर चेतना के द्वार खुल जाते हैं और दिव्य जीवन का प्रारम्भ हो जाता है। यह दिव्य जीवन कैसे प्राप्त किया जाए और सम्पूर्ण मानव-समाज को कैसे उस दिव्य जीवन की प्राप्ति करायी जाए, यही श्री अरविन्द के दर्शन और साधना का केन्द्रीय विषय है।

इसके लिए श्री अरविन्द ने वेदांती मार्ग को ही अपनी अनुभूति के आधार पर तथा अत्यन्त सुलझे हुए ढंग से नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। ज्ञान प्राप्ति के तीन सामान्य साधन हैं—पंच ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि। श्री अरविन्द बताते हैं कि बाह्यतः यह दिखाई देता है कि पंच ज्ञानेन्द्रियों से मन को बोध प्राप्त होता है किन्तु गहराई से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य मन का विशेष रूप ही ज्ञाने-न्द्रियां हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियां मन के बिना कार्य नहीं कर सकतीं किंतु मन ज्ञानेन्द्रियों का सामान्यतया उपयोग करते हुए भी—"इनका अतिक्रमण कर जाता है और बिना इनका उपयोग किए प्रत्यक्ष भी अनुभव कर सकता है—और यही उसकी नैसर्गिक प्रक्रिया है।" प्रत्यक्ष अनुभव में मन विषय से तादात्म्य द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। "इस विधि से ही हमें अपने मनोवेगों का ज्ञान होता है। इस विधि से ही हमें क्रोध का ज्ञान होता है···क्योंकि उस समय हम क्रोध ही हो जाते हैं। इसी प्रकार हमें अपनी निजी सत्ता का भी अनुभव होता है।" सचेतन तादात्म्य से होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान, सच्चा ज्ञान है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाला परोक्ष ज्ञान जो ज्ञाता को ज्ञेय से भिन्न मानने पर प्राप्त होता है अहंकार की सृष्टि है जो स्वयं

मिथ्या है और अपने मिथ्यात्व से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को ढँक भी लेता है और अन्ततः "ये मिथ्यात्व हमारे लिए सम्बन्ध के व्यावहारिक सत्य बन जाते हैं।" वस्तुतः हम अपनी जो परिसीमाएं आज मानते हैं, वे हमारे मन के विशेष अभ्यास का ही परिणाम हैं और विकास की एक अवस्था-विशेष की सूचक हैं।" जाग्रत मन को निद्रा की अवस्था में ले आने पर सच्चा या अन्तस्तलीय मन उन्मुक्त हो जाता है और तब यह साक्षात ज्ञान सम्भव हो जाता है। मन का सच्चा स्वरूप यह है कि वही एकमात्र इन्द्रिय है और वह स्वयं पर्याप्त है। सम्मोहन-निद्रा की अवस्था में ले आने पर मन अपने इस सच्चे स्वभाव का उपयोग करने में समर्थ होता है...मन की इस ज्ञान-शक्ति का जाग्रत अवस्था में विस्तार वस्तुतः असम्भव नहीं है, केवल अधिक कठिन है, यह बात उन सबको विदित है जो मानसिक प्रयोग के कुछ विशेष मार्गों में पर्याप्त दूरी तक गमन करने में समर्थ हुए हैं।"

बुद्धि से ग्राह्य और इन्द्रियों से परे सत्यों का मानस-अनुभव करने में इन्द्रियों की शरण लेना तो व्यर्थ है यहां पर मन द्वारा तादात्म्य ज्ञान के उस स्वरूप का विस्तार करने की सहायता लेनी पड़ती है जो हमें हमारी सत्ता का अनुभव कराता है। "आधेयों का ज्ञान आधार के ज्ञान में निहित रहता है" के सूत्र का प्रयोग करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं—"इस प्रकार हम अपनी मानसिक स्वानुभूति की शक्ति को उस आत्मा की अनुभूति के लिए विस्तृत कर सकते हैं जो हमसे बाहर और परे है, जिसे उपनिषदों ने आत्मा या ब्रह्म कहा है। तब हम उन सत्यों का अनुभव कर सकते हैं जो विश्व में व्याप्त आत्मा या ब्रह्म के अन्तस्तत्त्व हैं। इस सम्भावना के ऊपर ही भारतीय वेदान्त प्रतिष्ठित है। उसने आत्मज्ञान के द्वारा विश्व-ज्ञान को खोजा है।"

श्री अरविन्द वेदांत के अनुसार ही यह स्वीकार करते हैं कि मन और बुद्धि दोनों से परे जाने की आवश्यकता है। नीचे के 'अवचेतन' जिसका सर्वश्रेष्ठ विकसित रूप प्राण है और ऊपर के 'अतिचेतन' जो प्रकाशमय है, के बीच में स्थित मन व बुद्धि का उपयोग इस प्रकार करना चाहिए कि प्राणी उच्चतर विकास शीघ्रता से कर सके, और इस विकास का अर्थ है कर्म-बन्धन से ज्ञान को मुक्त कर उसे अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान में परिवर्तित करने में समर्थ करना। जब मन "ज्योतिर्मय स्वयंप्रकाश तादात्म्य" का रूप धारण कर लेता है तब बुद्धि भी अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान बन जाती है जो स्वयंप्रकाश है—"यह हमारे ज्ञान की वह उच्चतम सम्भव अवस्था है जिसमें मन अतिमानस में परिपूर्ण हो जाता है।"

इस अन्तःप्रज्ञा के स्वरूप को श्री अरविन्द ने अनेक प्रकार से समझाया है, "यह अन्तःप्रज्ञा ही हमारा सर्वप्रथम गुरु है। अन्तःप्रज्ञा सर्वदा हमारी मानसिक क्रियाओं के पीछे आवरण में छिपी हुई विद्यमान रहती है। अन्तःप्रज्ञा मनुष्य के पास अज्ञानतत्त्व से ऐसे दीप्त सन्देशों को लाती है जो उसके उच्च ज्ञान का प्रारम्भ होते हैं। तर्क-बुद्धि बाद में केवल यह देखने आती है कि वह इस दीप्त फसल से

क्या लाभ उठा सकती है।" निस्संदेह अन्तःप्रज्ञा हमारे सामान्य बोध के पीछे और परे जो कुछ है उसकी कुछ कल्पना देती है। "अन्तःप्रज्ञा प्रकृति के अन्तस्तल से उद्‌भूत है और इस कारण वह प्रकृति के समान बलशाली है और इसीलिए वह बुद्धि के विरोधों और अनुभव के प्रतिषेधों की चिन्ता नहीं करती।" सबसे महत्त्व-पूर्ण बात यह है कि अन्तःप्रज्ञा 'सत्ता' के विषय में नहीं 'सत्' के विषय में बताती है। उपनिषदों के महावाक्यों—'सोऽह्म' (मैं वही हूं), 'तत्त्वमसि' (तू वही है), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) और 'अयमात्मा ब्रह्म'—का स्रोत भी अन्तः-प्रज्ञा ही है।

श्री अरविन्द ने स्पष्ट कर दिया है कि "बुद्धि से जानना केवल समझना है" और वास्तविक जानना तो प्रत्यक्ष ज्ञान है जो प्रज्ञा से ही सम्भव है। "प्रज्ञा है वह चीज़ जिसे दिव्य दर्शन की दृष्टि आत्मा के अन्दर देखती है।" और इसीलिए वे कहते हैं कि "जब बुद्धि मर गई तब प्रज्ञा उत्पन्न हुई।" निस्सन्देह बुद्धि, वैज्ञानिक चिन्तन को सीमा तक लाकर तत्त्वदर्शन के द्वार पर खड़ा कर देती है क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले अन्तः विरोधों का सामंजस्य विज्ञान स्वयं नहीं कर सकता किन्तु बुद्धि भी स्वयं सामंजस्य करने में समर्थ नहीं है, उसके लिए अन्तःप्रज्ञा तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों का सुदृढ़ मार्गदर्शन आवश्यक है, नहीं तो मात्र बौद्धिक दौड़ सत्य को नहीं पकड़ सकती। तत्त्वदर्शन यदि बौद्धिक दौड़ तक ही सीमित रहे तब वह मानव-मन की दिव्य जीवन की आकांक्षा की पूर्ति का कोई ठीक उत्तर नहीं दे सकता। मानव-मन और बुद्धि विश्लेपणात्मक व विभेदात्मक हैं और इस कारण वे उस अखंड को पकड़ नहीं सकते, वे सत्ता को ही देख पाते हैं और सत् का दर्शन नहीं कर पाते अतः उनकी अपनी सीमाएं हैं। आवश्यकता इस बात की है कि अन्तःप्रज्ञा के मार्ग को परमतत्त्व के दर्शन के लिए स्वीकार किया जाए। और अन्तःप्रज्ञा से प्राप्त सामग्री को उपयोग में लाने के लिए मानव-बुद्धि भी उपयोगी है, किन्तु उस पर निर्णय देने के लिए वह स्वयं अपात्र है। अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान भी कम प्रकाशमय और अधिक प्रकाशमय हो सकते हैं और अधिक प्रकाशमय के द्वारा कम प्रकाशमय को साजा-सँवारा-सुधारा जा सकता है जैसे उपनिषदों में देखने को मिलता है।

श्री अरविन्द ने ज्ञान की चार अवस्थाएं बताकर यह समझाया है कि ज्ञान किस प्रकार पृथकतापूर्ण हो जाता है। सर्वप्रथम है तादात्म्य ज्ञान जो अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान है। दूसरा 'अत्यधिक प्रत्यक्ष सम्पर्क से प्राप्त ज्ञान' है। तीसरा 'पृथक्तापूर्ण प्रत्यक्ष सम्पर्क' से प्राप्त ज्ञान है और चौथा 'परोक्षसम्पर्क से प्राप्त पृथक्तापूर्ण ज्ञान' है। यदि मानव चाहे तो परमसत् के साक्षात्कार के लिए अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान का आश्रय ले सकता है और तब उसे विश्व का ब्रह्ममय स्वरूप स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा।

श्री अरविन्द-दर्शन में ब्रह्म की दोनों अभिव्यक्तियों—विश्व और व्यक्ति—का महत्त्व है। ब्रह्म की तीन स्थितियां हैं—परात्पर ब्रह्म, विश्व और व्यक्ति। उनकी नित्यता भी है किन्तु फिर भी वे स्वतंत्र अवस्थाएं नहीं हैं, तीनों एक अखंड अद्वैत तत्त्व ही हैं। विश्व मिथ्या नहीं है। विश्व भी आनंदमय ब्रह्म की चिन्मयी शक्ति की कृति है। और इस कारण सत् भी है, चित् भी है और आनंद भी है किंतु अहंभाव-युक्त दृष्टि के कारण प्रायः उसका सही स्वरूप देखने में नहीं आता। विश्व भी अन्ततः ब्रह्म से एकरूप होने के लिए विकास-यात्रा कर रहा है और व्यक्ति भी और दोनों ही एक दूसरे के लिए उपयोगी हैं।

मनोमय मानव के विकास का अगला चरण अतिमानस की प्राप्ति होगा। ऋषियों इत्यादि ने उसको प्राप्त कर लिया था। विरले व्यक्ति ही उसे प्राप्त करते रहे हैं किंतु सामान्यतया सारा मानव-समाज ही मनोमय से उठकर अतिमानस हो सके, विज्ञानमय हो सके अर्थात दिव्य चेतना में जीवन वाला हो सके, इसी पर श्री अरविन्द की साधना तथा चिंतन-मनन का विशेष ध्यान है। मानव का अतिमानव बनना, वस्तुतः उसका रूपान्तरण करना है और इस रूपान्तरण के लिए श्री अरविन्द का आत्मसमर्पणप्रधान पूर्णयोग एक व्यावहारिक कार्यप्रणाली प्रस्तुत करता है, ठीक वैसे ही जैसे स्वयं श्री अरविन्द द्वारा अतिमानसोपलब्धि एक सजीव उदाहरण।

अहम्

वस्तुतः इस सम्पूर्ण विश्व में सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म ही परम व मूल तत्त्व है। विश्वात्मक ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द है और जगत में जो कुछ भी है वह ब्रह्म की लीला मात्र है। किन्तु ब्रह्म की यह क्रीड़ा सामान्य मानव को आनन्दमय दिखाई नहीं देती, द्वन्द्वात्मक दिखाई देती है। यह जिसके कारण है, वही 'अहंकार' है।

श्री अरविन्द बताते हैं कि ब्रह्म अपनी क्रीड़ा और गति में नाना रूपों, विविध प्रकार की प्रवृत्तियों तथा विभिन्न प्रकार की शक्तियों के रूप में अभिव्यक्त होता है। और "अनिर्धारित को निर्धारित करने वाले तथा अस्थायी रूप से निर्विकार को सविकार बनाने वाले व्यक्तिगत अहंकार को हस्तक्षेप की अनुमति यह विविधता देती है।" इस अहंकार का स्वरूप बताते हुए श्री अरविन्द कहते हैं—"चित् का स्वयं अपनी इच्छा से, अज्ञान रूप आवरण के द्वारा, स्वयं को आवृत्त करके, अपने किसी एकरूप में, प्रवृत्तियों के किसी एक संयोग में, शक्तियों की क्रिया के किसी एक क्षेत्र में, स्वयं को निमग्न कर देना और अपनी शेष क्रीड़ा को भुला देना और इस प्रकार स्वयं परिसीमित हो जाना ही अहंकार है।"

अहंकार ही जगत में मिथ्याज्ञान, शोक, दुःख इत्यादि को आनन्द से भिन्न रूप में देखता है—"अ ंकार ही वह तत्त्व है जो शोक, त्रुटि, दुःख, अशुभ मृत्यु की

प्रतिक्रियाओं को निश्चित करता है, क्योंकि यह ब्रह्म की गतियों को जो अन्यथा सत्, चित्, आनन्द और शिव के यथार्थ सम्बन्ध में देखी जा सकती हैं, वे (शोक, दुःख, आदि) मूल्य प्रदान करता है।" समस्त द्वन्द्व अहंकार की ही सृष्टि है किन्तु पुनः यथार्थ सम्बन्ध को प्राप्त करने के लिए द्वन्द्वातीत ब्रह्म की सर्वत्र आनन्दमयी लीला का यथार्थ दर्शन करने के लिए व्यक्ति को अपने अहंकार को समाप्त कर देना होगा और यह "विश्वचेतना व विश्वातीत चेतना में व्यक्ति-चेतना के ठीक भाग लेने पर" संभव है। "परिसीमित अहंकार को दिव्य ऐक्य और दिव्य स्वातंत्र्य के सचेतन केन्द्र के रूप में रूपान्तरित कर देने से व्यक्ति को सर्वब्रह्म की अनुभूति होती है; यह अनुभूति वह अवस्था है जिस पर परिपूर्णता पहुंचती है।"

यह अहंभाव शरीर में तो स्पष्ट दिखाई देता है, अन्यत्र भी है—"शरीर की अपेक्षा मन और प्राण में कहीं अधिक अहंकार भरा हुआ है।" प्रत्येक साधक में प्रारंभ में अहं-परायणता होती ही है। "अपनी निजी साधना, अपना निजी प्रयत्न, अपनी निजी उन्नति, पूर्णता एवं सिद्धि ही सदा अहं-परायणता की मुख्य भावना होती है।" किन्तु प्रयत्न से यह अहं-परायणता ईश्वर-परायणता में परिवर्तित हो जाती है। "अत्यन्त अहं-परायण व्यक्ति भी बाह्य प्रकृति में चैत्य तत्त्व के प्रतिष्ठित हो जाने पर बदल सकते हैं और अवश्य बदलते हैं।" इसके लिए भगवान की कृपा चाहिए किन्तु उसके लिए भी व्यक्ति को "पूर्ण सकल्प तथा श्रद्धा" के साथ प्रयत्नशील होना अनिवार्य है।

श्री अरविन्द बताते हैं कि साधना में एक भयंकर बाधा 'विस्तारित अहं' है। परमात्मा का यंत्र होने का अहंकार एक विस्तारित अहंकार है। तब "भगवान की महत्ता अपनी महत्ता के लिए बहाना तथा सहारा बन जाती है" और यह कहीं अधिक हानिकारक है।

एकता-अनेकता

मायावादी वेदांत आत्मा या ब्रह्म को सत्य मानता है किन्तु जगत को मिथ्या या कल्पना कहता है। इस प्रकार वह एकता का सत्य तो स्वीकार करता है किन्त अनेकता का सत्य स्वीकार नहीं करता। उसी प्रकार जड़वाद अनेकता-युक्त विश्व को तो सत्य स्वीकार करता है किन्तु आत्मा या ब्रह्म को मिथ्या या कल्पना मानता है अर्थात अनेकता का सत्य तो स्वीकार करता है किन्तु एकता का सत्य स्वीकार नहीं करता। श्री अरविन्द बताते हैं कि वैश्व चेतना में प्रवेश करने पर जड़ तत्त्व व आत्मा दोनों की यथार्थता तो सिद्ध हो ही जाती है, दोनों मूलतः एक ही तत्त्व 'ब्रह्म' के दो रूप मात्र हैं, यह भी सिद्ध हो जाता है। तब मन 'एकता के सत्य' और 'अनेकता के सत्य' दोनों का साक्षात्कार करता है और उनका दिव्य सामंजस्य बैठा पाता है। यही नहीं, वे यह भी बताते हैं कि "विश्वगत बहुत्व के साथ एकता प्राप्त

किए विना मुक्त आत्मा की परात्पर ब्रह्म से एकता अधूरी है। यही सच्ची वेदान्त शिक्षा है।"

मानव की चिर आकांक्षा

सभ्यता के प्रारंभ से ही प्रबुद्ध मानव में एक ऐसा विचार रहा है जो उसके सभी विचारों में सबसे ऊंचा भी है, अनिवार्य भी है और चरम भी। यह विचार है दिव्य जीवन की प्राप्ति का जो सत्य की खोज, आनन्द की खोज, अमरत्व की खोज, पूर्णता की खोज आदि रूपों में अभिव्यक्त होता है। मानव की यह चिर आकांक्षा है कि वह प्रकाश, आनन्द, ज्ञान के शान्त जीवन को इस लोक या परलोक में प्राप्त करे। श्री अरविन्द के अनुसार यह आकांक्षा उसके विकास की भावी दिशा का संकेत करती है। भागवत चेतना जब जड़तत्त्व के रूप में अवरोहण कर चुकने के पश्चात आरोहण प्रारंभ करती है तो सर्वप्रथम प्राणतत्त्व के रूप में प्रकट होती है और फिर मन के रूप में। मन के पश्चात भी उसे ऊपर बढ़ना है और अतिमन में विकसित होना है जो वेदांत के अन्नमय कोष व प्राणमय कोष से ऊपर विज्ञानमय कोष के रूप में दिव्यता का प्रारम्भ है। विकास का क्षेत्र तो उसके पश्चात भी है। और तब तक होता रहता है जब तक आत्मा परमात्मा से एकरूप नहीं हो जाती किन्तु दिव्य जीवन का प्रारम्भ अतिमानस-चेतना को प्रारम्भ कर लेने से होता है। श्री अरविन्द के विचार में मानव-प्राणी के पश्चात अतिमानस वाले अतिमानव का युग अर्थात दिव्ययुग ही पृथ्वी पर प्रकृति की अगली योजना है।

जीवन का उद्देश्य

श्री अरविन्द के अनुसार जीवन का सर्वप्रथम और सर्वोच्च उद्देश्य है भगवत्प्राप्ति। "भगवत्प्राप्ति ही आध्यात्मिक सत्य तथा आध्यात्मिक जीवन की खोज ही सर्वप्रथम उद्देश्य है। वही एकमात्र आवश्यक वस्तु है, अन्य सब कुछ इसके बिना निरर्थक हैं।" भगवान का दर्शन पा लेना भी पर्याप्त नहीं है। महत्त्व की बात है भगवान को अपने में अभिव्यक्त करना, अपनी व्यक्ति-चेतना को भागवत चेतना में रूपान्तरित करना और अन्ततः परमात्मा का यन्त्र मात्र बन जाना, यही महत्त्व की बात है।

पाश्चात्य दर्शन और भारतीय दर्शन में अन्तर

पाश्चात्य दार्शनिकों के तत्त्वचिन्तन में बुद्धि को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ है। बुद्धि की सीमा ही यूरोपीय दर्शन की सीमा है। श्री अरविन्द के शब्दों में "यह बुद्धि परम सत्य को कभी नहीं जान सकती। वह तो सत्य की खोज में केवल इधर-उधर भटक सकती है। और स्वयं सत्य वस्तु को नहीं, वरन् उसके खण्ड प्रतिरूपों

को पकड़ सकती है तथा उन्हें एक साथ जोड़ने की चेष्टा कर सकती है।" बुद्धि तो अन्त में 'अज्ञेयवाद' पर जाकर रुक जाती है या किसी बौद्धिक दर्शन में या कल्पित सिद्धान्त में। ऐसे सैकड़ों ग्रन्थों का भी क्या मूल्य जबकि उनके दार्शनिक निर्णय अनुमान मात्र हैं। उनका आध्यात्मिक मूल्य तो कुछ भी नहीं है। श्री अरविन्द के अनुसार वे मन और बुद्धि के व्यायाम के लिए ही अच्छे हैं। यूरोपीय दर्शन के इस बुद्धिवाद ने उसे उस अध्यात्म-मार्ग से दूर कर दिया है जो बाहर से नहीं, अन्दर से सत्ता का स्वरूप दिखा सकता है। ये दार्शनिक विचार "बुद्धि के क्षेत्र में ही बंधे हुए हैं और उस क्षेत्र के अन्दर निस्सन्देह प्रशंसनीय हैं। परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति के लिए इनसे कोई शक्ति नहीं मिल सकती।"

यूरोप में बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण आध्यात्मिक अनुभव भी तभी प्रामाणिक माना जा सकता है, जब वह बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरे और यह भारतीय भावना के ठीक विपरीत है क्योंकि "भारत में तो सत्य की खोज में सर्वोच्च स्थान मानसिक चिंतन का नहीं, आध्यात्मिक अनुभूति (जिसे संबोधि या ज्ञान-ज्योति भी कहते हैं) का रहा है और जो बौद्धिक निर्णय इस परम प्रमाण का विरोधी हो, उसे अप्रामाणिक ही माना गया है।" भारत में तो तर्क से प्रारम्भ करने वाला साधक भी यह जानता है कि उसे मन व बुद्धि से परे भी चेतना को प्राप्त करना है। यहां तो प्रत्येक दर्शन के प्रवर्तक (तथा उनके कार्य या मत को चलाने वाले आचार्य भी) एक साथ ही जैसे दार्शनिक थे, वैसे ही योगी भी थे। कोरे दार्शनिक विद्वानों की विद्वत्ता का आदर तो किया गया, किन्तु उन्हें सत्यद्रष्टा नहीं माना गया। श्री अरविन्द यह भी बताते हैं कि "जिन दर्शनों में आध्यात्मिक अनुभूतियां पर्याप्त हैं और शक्तिशाली साधन नहीं थीं, वे लुप्त हो गए।"

भारतीय योग मन, प्राण और शरीर का रूप-परिवर्तन कर उन्हें दिव्य बनाना चाहता है। इसके लिए केवल 'सत्' का विचार करते रहना तो पर्याप्त नहीं हो सकता। इसके लिए तो चेतना का परिवर्तन अनिवार्य है। और यही भारतीय योग का लक्ष्य है।

विकासवाद

डार्विन के विकासवाद ने जीवन-संघर्ष में 'योग्यतम के अवशिष्ट रहने' का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया उसी का सामाजिक प्रयोग नाज़ी व फ़ासीवादी शक्तियों ने किया था। जिस सामाजिक विकासवाद का प्रयोग शोषकों ने एक बौद्धिक शास्त्र के रूप में किया उसका खंडन श्री अरविन्द ने अपने आध्यात्मिक विकासवाद के सिद्धान्त द्वारा किया। डार्विन के अनुसार विकास के लिए अनिवार्य तीन प्रमुख बातों—मृत्यु, परस्पर भक्षण, स्थान की सीमितता और जीवन के लिए संघर्ष—में निहित आत्म-संरक्षण का स्वार्थ-केन्द्रित सिद्धान्त मान लेना सहयोग और प्रेम

के महत्त्वपूर्ण जीवन-सिद्धान्तों की उपेक्षा करना है। जीवन-संघर्ष का सिद्धान्त अब ध्वस्तप्राय है। वंशानुक्रम-सम्बन्धी विकासवादी विचार के विषय में भी नए गवेषकों का मत यही है कि किसी व्यक्ति द्वारा प्राप्त विशेषताएं उसकी संतति को नहीं मिलतीं अपितु प्रवृत्तियां ही उत्तराधिकार में मिलती हैं और ऐसी अनेक खोजों व परिणामों के फलस्वरूप यह देखा जा सकता है कि डार्विन का विकासवाद सिद्धान्त अब संशोधन की मांग करता है।

श्री अरविन्द के अनुसार विकासवाद में अनेक दोष हैं। उदाहरणार्थ प्रथम दोष है, प्रकृति की उद्देश्यहीनता को मानना। दूसरा दोष है—मन, प्राण और चेतना की उत्पत्ति, चेतन आत्मतत्त्व से हीन जड़तत्त्व से मानना। तीसरा दोष है—भौतिक आवश्यकता की पूर्वापर शृंखला को स्वीकार करना जिसके अनुसार "सब कुछ अभिव्यक्ति है जो किसी पूर्व अभिव्यक्ति का तर्कसंगत फल है। चौथा दोष है—मुख्यतया एक सीधी रेखा में क्रमशः प्रगति का विचार मानना। श्री अरविन्द ने 'विकास' (निबंध संग्रह) में इन दोनों का संक्षिप्त विवेचन भी किया है और अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा है—"इस प्रकार विकास का पूर्ण दृष्टिकोण ही परिवर्तित होने लगता है। प्रकृति-शक्ति के द्वारा अनिर्देश्य जड़तत्त्व से एक यांत्रिक, क्रमिक, कठोर विकास के स्थान पर हम एक अतिचेतन ज्ञान के द्वारा—जो अगाध अचेतन से जड़तत्त्व, प्राण और मन में वस्तुओं को प्रकट करता है, जिससे वे स्वयं उद्भूत हैं—एक सचेतन, आज्ञाकारी, लचीले, अत्यधिक आश्चर्य-जनक और अनवरत नाटकीय विकास की ओर मुड़ते हैं।"

पुनर्जन्म

श्री अरविन्द ने पुनर्जन्म के सम्बन्ध में बड़ी गहराई व विस्तार से विचार किया था। वे पुनर्जन्म के सम्बन्ध में इस धारणा को भ्रमपूर्ण बताते हैं कि यह व्यक्तित्व का दोहराया जाना है और जो पहले जन्म में कवि था, वह अगले जन्म में भी कवित्व से युक्त होगा। उनके अनुसार ये लक्षण कभी-कभी दोहराए भी जाएं तो भी एक नए रूप में ढलकर ही होगा क्योंकि जो कुछ पहले था उसीको फिर से प्रकट करना तो पुनर्जन्म का उद्देश्य नहीं है। फिर पुनर्जन्म का उद्देश्य क्या है ? श्री अरविन्द के शब्दों में—"जीव जन्म लेता है अनुभव के लिए, अपनी वृद्धि के लिए, अपने क्रमविकास के लिए, जिससे अन्त में वह इस जड़तत्त्व के अन्दर भगवान को उतार सके।"

कला और सौन्दर्य

श्री अरविन्द के विचार-दर्शन में कला और सौन्दर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके अनुसार जिस दिन हम प्राचीनकाल की तरह सौन्दर्य और आनन्द के उपासक

हो जायेंगे, वही हमारा मुक्ति-दिवस होगा। आज उद्योग-धन्धों और विज्ञान को जीवन का अंग बनाने का जो पाश्चात्य प्रयास चल रहा है, वह मानव के पशु-जीवन की प्रेरणा है। आर्थिक और उपयोगितावादी दृष्टिकोण जिस बड़ी व्यावहारिक तर्क-बुद्धि पर आधारित है, वह मानव को न तो आनन्द प्रदान कर सकती है, न जीवन को कृतकृत्य कर सकती है और न मानव का दिव्य विकास कर सकती है। "कला है सौन्दर्य के अन्वेषण का प्रकटीकरण" तथा "कला का उद्देश्य है सौन्दर्य को साकार करना और आनन्द प्रदान करना।" अतः कला से कटे हुए आधुनिक जीवन को यह समझने की आवश्यकता है कि "इस सौन्दर्य और आनन्द के बिना न तो कला में भद्रता और मधुरता हो सकती है, न सन्तुष्ट जीवन-प्रतिष्ठा और परिपूर्णता हो सकती है, न आत्मा का समंजित पूर्णत्व हो सकता है।"

प्राचीन भारत ने आध्यात्मिकता की दिशा में कला का प्रभावी उपयोग किया था। श्री अरविन्द भी काव्य और कला को आध्यात्मिकता की दिशा में महत्त्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि "सौन्दर्य और आनन्द ही काव्य और कला की आत्मा भी हैं, उद्गम भी।"

कला को श्री अरविन्द आन्तरिक जीवन की लयात्मक वाणी कहते हैं और आनन्द को किसी एक मुद्रा या भाव या रूप के आकर्षण में मन या इन्द्रियों की सौन्दर्यपरक संलग्नता से भिन्न मानते हैं। सौन्दर्य है आनन्द का घनीभूत, एकाग्र-रूप। जब एक स्मितिमात्र में, एक स्पर्शमात्र में, एक क्षणमात्र में आनन्द की अनुभूति होती है तब यह उस शाश्वत की ही अनुभूति है जो परमसुन्दर परम ब्रह्म है, जो आनन्द रूप है, सौन्दर्य का धाम है। विश्वव्यापी परम सौन्दर्य का यह दर्शन किसी पुष्प में भी हो सकता है, किसी नाटक इत्यादि के पात्र में भी हो सकता है, किसी विचार में भी हो सकता है, किसी भाव में भी हो सकता है, किसी कलात्मक कृति में भी हो सकता है, किसी काव्यात्मक कृति में भी हो सकता है, प्रकृति के किसी दृश्य में भी हो सकता है। और जब ऐसा होता है तो हम पूर्णतया सन्तुष्ट हो उठते हैं। सर्वत्र प्रकृति में, जीवन में, मानव में उस परम सौन्दर्य का दर्शन मानव को उसमें एकरूप होने की दिशा में प्रेरित करता है और अन्ततः एकरूप कर देता है। तब सम्पूर्ण प्रकृति सौन्दर्यमयी दिखाई देती है—"उच्चतम सौन्दर्य की प्राप्ति परमात्मा की प्राप्ति है, उच्चतम सौन्दर्य को प्रकट करना, साकार करना, या जैसा हम कहते हैं उसकी रचना करना, अपनी आत्माओं में से परमात्मा की सजीव मूर्ति व शक्ति को प्रकट करना है।" किन्तु सौन्दर्य भी कम या अधिक मात्रा में व्यक्त हो सकता है। श्री अरविन्द बताते हैं कि "एक दृष्टिकोण से सभी कुछ सुन्दर है; किन्तु सभी एक ही स्तर का सौन्दर्य नहीं है। वस्तुओं को दिव्य सौन्दर्य से युक्त देखा जा सकता है किन्तु कुछ वस्तुओं में अन्य वस्तुओं से अधिक दिव्य सौन्दर्य होता है।" और परम सुन्दर तो केवल

ब्रह्म ही है और पृथ्वी पर दिव्य-जीवन का अवतरण ही पृथ्वी पर दिव्य सौन्दर्य का अवतरण होगा।

श्री अरविन्द ने सौन्दर्य-सम्बन्धी विचार प्रकट करते हुए एक स्थान पर लिखा है—"जिस प्रकार मन में सत्य, हृदय में प्रेम और प्राण में शक्ति, उसी प्रकार जड़तत्त्व में सौन्दर्य विशेष दिव्य अभिव्यक्ति है। अतिमानसिक सौन्दर्य जड़तत्त्व में अभिव्यक्त सर्वोच्च दिव्यसौन्दर्य है।" परमात्मा पूर्ण सौन्दर्य है, पूर्ण प्रेम भी है और पूर्ण आनन्द भी। परमात्मा का साधक भी जब सर्वत्र परमात्मा को ही देखता है तो सर्वत्र ही सौन्दर्य, प्रेम और आनन्द का भी दर्शन करता है। "प्रेम और सौन्दर्य आनन्द की ही शक्तियां हैं जैसे प्रकाश और ज्ञान, चेतना की शक्तियां हैं।" सम्पूर्ण विश्व ही आनन्द से उद्भूत होता है और आनन्द में ही लय भी हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व में दिव्य सौन्दर्य का दर्शन करके मनुष्य 'अविद्या' से 'विद्या' को प्राप्त करता है। पूर्ण पुरुष भी वही होगा जो सर्वत्र दिव्य सौन्दर्य का दर्शन कर सके। भागवती शक्ति को 'महालक्ष्मी' रूप में पाने के लिए सौन्दर्य-साधना आवश्यक है—"अन्तःकरण और अन्तरात्मा का सामंजस्य और सौन्दर्य, चिंतन और अनुभूति का सामंजस्य और सौन्दर्य, प्रत्येक बाह्यकर्म और गतिविधि में सामंजस्य और सौन्दर्य, जीवन और जीवन के चतुः पार्श्व का सामंजस्य और सौन्दर्य—यह है महालक्ष्मी को प्रसन्न करने का अनुष्ठान।"

श्री अरविन्द बताते हैं कि आध्यात्मिक दृष्टि ही सम्पूर्ण विश्व में दिखाई देने वाले अच्छे-बुरे, सुन्दर-कुरूप आदि भेदों के भीतर व्याप्त सौन्दर्य और आनन्द को देख सकती है। सौन्दर्य का आधार 'सामंजस्य' ही आध्यात्मिक दृष्टि का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। "जब व्यक्ति स्वयं को ब्रह्म अनुभव करता है तभी सामंजस्य की प्राप्ति होती है।"

नास्तिकता

श्री अरविन्द के अनुसार नास्तिकता अर्थात भौतिकवादी दर्शन का भी विश्व में काम कर रही प्रकृति-योजना में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भौतिकवाद जड़-तत्त्व पर पूर्ण बल देता है और चेतना तत्त्व को या आत्मा-परमात्मा को स्वतंत्र रूप से स्वीकार नहीं करता। वह धर्म पर, आध्यात्मिकता पर बौद्धिक प्रहार करता है और प्रायः उसे विध्वंसात्मक मानकर घृणा-योग्य समझा जाता है। किन्तु श्री अरविन्द बताते हैं कि नास्तिकता घृणा-योग्य नहीं है क्योंकि वह धार्मिक जीवन के कारण पृथ्वी के प्रति बढ़ती अवज्ञा को संतुलित करने में बड़ी उपयोगी रही है। क्योंकि सत्य तो यह है कि "पृथ्वी के पुत्र के लिए अतिभौतिक ज्ञान को खोजते हुए भी पृथ्वी का स्पर्श सदा बल देने वाला है। यहां तक कहा जा सकता है कि अतिभौतिक पर पूर्ण प्रभुत्व तो वस्तुतः तभी प्राप्त किया जा सकता है···जब हम

भौतिक पर दृढ़ता से पैर जमाए रखें।" पुनः नास्तिकता का यह भी एक लाभ है कि धार्मिक युगों में एकत्रित हो गई रूढ़ियों या मिथ्याविश्वासों को वह दूर कर देती है। किंतु एक बात अवश्य है कि नास्तिकता की उपयोगिता की अपनी सीमा है और विश्व में परमतत्त्व 'ब्रह्म' को स्वरूपतः जानने के लिए हमें इन्द्रियों व बुद्धि पर अत्यधिक बल देने वाले तथा प्रत्यक्ष तक ही सीमित रहने वाले भौतिकवाद से ऊपर उठकर विचार करना पड़ता है।

जड़वाद मानवता को सर्वोच्च घोषित करता है। श्री अरविन्द इसका खंडन करते हैं—"मानवता सर्वोच्च देव नहीं है; परमात्मा मानवता से बड़ा है; परन्तु मानवता से भी हमें परमात्मा का दर्शन करना होगा तथा उसकी सेवा करनी होगी।" वे बताते हैं कि मानव-जाति के विकास में अधिक दया, अधिक सहिष्णुता, अधिक एकता आदि की जड़वादी युग में वृद्धि ही हुई है। यह सत्य है कि मानवता के ये बीज धर्म द्वारा ही दिए गए थे परन्तु धार्मिक सम्प्रदायों के भीषण दोषों यथा अधिक व्यक्तिवादिता, सम्प्रदायहित में अत्याचारिता, संन्यासत्व की अधिकता, मानव-जीवन की व्यर्थता तथा परलोक की महत्ता देखने वाली दृष्टि आदि के कारण संतुलन बनाने के लिए धर्मनिरपेक्षता का लम्बा काल-खंड आवश्यक हो गया था। और "बौद्धिक स्पष्टता, तर्क, न्याय, सहिष्णुता, मानवता पर आग्रह करने" तथा पार्थिव जीवन की प्रगति करने (न कि क़यामत के दिन तक प्रतीक्षा करते रहने) पर बल देने के कारण जड़वाद ने अति उपयोगी कार्य किया। "मानव-मन के पृथ्वी-अभिमुखी और मानवीय घुमाव के लिए चरम बौद्धिक परिणाम ही जड़वाद था।" मानव का चरम पार्थिव विकास उसकी पूर्णत्व-प्राप्ति के लिए आवश्यक और प्रारम्भिक बात है। जब-जब वह यह भूल जाता है तब-तब काल-पुरुष उसे ऐसे झटके देकर ही पृथ्वी पर ला टिकाता है।

श्री अरविन्द के अनुसार नास्तिकता के वर्तमान युग के तीन प्रभाव स्थायी होंगे—भौतिक विश्व की सत्यता व उसका महत्त्व, ज्ञान की वैज्ञानिक विधि तथा पृथ्वी पर जीवन व विकासवादी मानव-प्रयत्न का महत्त्व। और ये प्रभाव बने तो रहेंगे किन्तु साथ ही "दूसरे भाव की ओर मुड़ जायेंगे और महत्तर विषयों का रहस्योद्‌घाटन करेंगे।"

काल और काली

श्री अरविन्द ने युग-चेतना को भारतीय दर्शन के अनुसार 'कालपुरुष' और उसकी शक्ति को 'काली माता' के रूप में देखा है। "सबकी माता और सबका संहार करने वाली काली वह शक्ति है जो मनुष्यों, संस्थाओं और आन्दोलनों की शाश्वत तरंग में अपने आपको प्रकट करती हुई, मानव-जाति के हृदय में गुप्त रूप से कार्य करती है।" और "महाकाल वह अन्तःस्थित आत्मा है जिसकी शक्ति उसमें

(काली में) सर्वत्र संचरित है और विश्व की प्रगति तथा राष्ट्रों की नियति का निर्माण करती है। गीता में "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत प्रवृद्धो···" वचन द्वारा श्रीकृष्ण ने कालपुरुप के रूप में अपना परिचय दिया था—"काल की मंद प्रक्रिया के रूप में···नहीं अपितु 'काल' के रूप में, जिस रूप में काल-पुरुप मानो दशाब्दियों तक सावधानीपूर्वक तैयार किए गए कार्य को क्षण भर में पूर्ण कर रहा होता है।"

श्री अरविन्द के अनुसार "जिन्हें अतिप्रबल परिवर्तन करने का आदेश प्राप्त हुआ होता है, वे 'काल' की शक्ति से पूरित होते हैं। काली उनमें प्रवेश कर चुकी होती है और जब काली किसी मनुष्य में प्रवेश कर लेती है तो वह बुद्धिगम्यता और सम्भाव्यता की कुछ चिंता नहीं करती।···वह काल में गति करती है और वह गति ही स्वयं को सफल बनाती है, अपने साधन उत्पन्न करती है, अपने लक्ष्यों को सिद्ध करती है।" काली जब किसी व्यक्ति को अपना यंत्र बनाती है तो इसी-लिए कि वह उसके उपयुक्त होता है और "उसे चुनकर वह (काली) न तो उसे तब तक छोड़ती है जब तक प्रयोजन सिद्ध नहीं हो जाता और न ही स्वयं को (काली को) छोड़ने देती है।" यह भी आवश्यक नहीं है कि एक समय का काली का यंत्र सदैव ही यंत्र-रूप में कार्य करता रहे। "कुछ यंत्र संभालकर सुरक्षित रखे जाते हैं, दूसरे एक ओर पटक दिए जाते हैं और खण्ड-खण्ड कर दिए जाते हैं, परन्तु हैं सभी यंत्र ही।" इस प्रकार "व्यक्तियों की महत्ता है अन्तःस्थित शाश्वत शक्ति की महत्ता" और व्यर्थ में जो अहंकार करे वह कितना भी महान रहा हो, अन्त में पतित और नष्ट हो ही जाता है।

राक्षस

श्री अरविन्द ने नेपोलियन पर विचार प्रकट करते हुए कहा है कि वह एक अतिमानवीय शक्ति था। "हमारे साहित्य में ऐसे लोगों का वर्णन देवता, सिद्ध, दानव या राक्षस के रूप में किया जाता है। वाल्मीकि ने रावण को दस सिरों वाले राक्षस के रूप में चित्रित किया है किन्तु यह देखना सहज है कि यह कल्पनालोक या सूक्ष्म जगत में दिखाई देने वाला उसका रूप था। मानवता के शब्दों में वह एक विभूति था, अतिमानव था, नेपोलियन की ही श्रेणी का जीव था।"

राक्षस के गुण बताते हुए श्री अरविन्द उसे "कभी समझौता न करने वाला परम अहंवादी" कहते हैं जिसके लिए "उसका स्वभाव ही उसका अधिकार" है और "उसकी आवश्यकता ही उसका औचित्य"। राक्षस न तो परोपकारी होता है, न प्रेमी अपितु वह तो आत्मसंतोष के लिए पागल होता है। क्रूरता, उसका स्वभाव नहीं होता किन्तु अपने आत्मसंतोष के लिए वह क्रूरता भी कर सकता है। राक्षण भी मानवता के लिए एक प्रकार से उपयोगी ही सिद्ध होता है क्योंकि "राक्षण एक व्यक्तित्व है, एक शक्ति है, एक सामर्थ्य है। वह ईश्वर की दूसरी

शक्ति है—क्रोध, वल, ऐश्वर्य, तीव्र आवेग, उद्दाम साहस, हिमस्खलन, वज्र है... और इसी रूप में हम उसकी प्रशंसा और उसका अध्ययन कर सकते हैं।"

चमत्कार

संसार में कितनी ही चमत्कारपूर्ण घटनाओं के योगियों, सिद्धों, सन्तों आदि के द्वारा होने के वर्णन मिलते हैं। विज्ञान-वेत्ता इन्हें अपने ज्ञानाभिमान से मिथ्या कह देते हैं जवकि न तो उन पर वे सम्यक रीति से विचार या उनका विश्लेषण ही करते हैं, न यह उनका कार्य-क्षेत्र ही है। वस्तुतः विज्ञान यहां पर कठमुल्लापन का पर्यायवाची ही हो गया है। श्री अरविन्द चमत्कारी घटनाओं को सत्य स्वीकार करते हैं किन्तु साथ ही उनकी व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। वे चेतना के विभिन्न स्तरों, विभिन्न लोकों तथा विभिन्न प्रकार के शरीरों—प्राणिक शरीर आदि—के आधार पर सभी प्रकार के चमत्कारों की व्याख्या समझ में आने योग्य विधि से करते हैं। उनके लिए सामान्य स्थूल जड़तत्त्व के नियमों से ऊपर सूक्ष्म जड़तत्त्व के नियम हैं। और उसके ऊपर भी नियम हैं। जो नियम हमें पता हैं, वे हमारे लिए साधारण है किंतु उनके ऊपर के नियमों के अज्ञान के कारण हमें उनकी कार्यविधि चमत्कारी लगती है। भूत-प्रेत, स्वप्न-दर्शन, तांत्रिक सिद्धियां, योग-सिद्धियां, आत्माओं को प्लैंचेट आदि माध्यमों से बुलाना व वातचीत करना, मेस्मेरिज्म, जादू, शुकन-अशकुन, सम्मोहन-विद्या, आकाशवाणी इत्यादि पर उनके विचार प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव पर आधारित भी हैं और तर्कसंगत भी।

फलित ज्योतिष, हस्तसामुद्रिक इत्यादि

श्री अरविन्द भविष्य जानने की विधियों जैसे फलित ज्योतिष, हस्तसामुद्रिक इत्यादि की सत्यता को अंशतः स्वीकार करते थे। वे फलित ज्योतिष को पूर्ण विज्ञान तो नहीं मानते थे परन्तु अवैज्ञानिक या मिथ्या भी नहीं मानते थे। उन्होंने इस सम्वन्ध में एक पुस्तक की समीक्षा करते हुए महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किए हैं। अन्यत्र उन्होंने कहा था—"यह कहना पूर्णतया सत्य नहीं है कि मानव-जीवन नक्षत्रों द्वारा शासित है। नक्षत्रों के योग वलों, विशेषतः प्राणिक और भौतिक वलों, के सूचक हैं। वे मनुष्य और उसके जीवन-क्रम को कुछ प्रभावित अवश्य करते है।" किंतु साथ ही यह रहस्यपूर्ण वात भी वे वताते हैं कि "मानव के लिए महत्त्व-पूर्ण है आन्तरिक जीवन और उस पर नक्षत्रों का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।" इसी-लिए वे एक स्थान पर यह वताते हैं कि योगी के जीवन-विकास के विषय में ज्योतिष के परिणाम ठीक नहीं आते। हस्तसामुद्रिक को भी वे महत्त्वपूर्ण मानते हैं किंतु इस विद्या के विशेषज्ञों के समान ही वे वताते हैं कि हाथ की रेखाएं परिवर्तित की जा सकती हैं, परिवर्तित होती रहती हैं। भावी घटनाएं वदली तो जा सकती हैं किंतु

जहां पहुंचकर वे बदली जा सकती हैं, वहां पहुंचना प्रत्येक के लिए अथवा हर समय सम्भव नहीं होता।

प्राण

श्री अरविन्द ने 'प्राण तत्त्व' के विषय में अनेक स्थानों पर प्रकाश डाला है। 'प्राण' क्या है ? निश्चित ही श्वास-प्रश्वास नहीं, अपितु "प्राण का अर्थ है जीवनी-शक्ति"। जहां भी जीवन है, वहां जीवनी-शक्ति भी है और इसलिए प्राण भी है। वनस्पति में, पशु में, मनुष्य में प्राण ही है जो शरीर की क्रियाओं को चलाता रहता है। फिर भी प्राण, मन से भिन्न है। प्राण प्रबल भी हो सकता है और दुर्बल भी। प्रबल प्राण में जीवनी शक्ति अधिक होने से शक्ति, साहस आदि की क्षमताएं होती हैं और इसीलिए प्रबल प्राण वाला साधक यदि ईश्वर के प्रति समर्पण कर सके तो वह बहुत शीघ्र सफलता पा सकता है किन्तु दुर्बल प्राण आध्यात्मिक साधना के लिए समर्थ नहीं होता। श्री अरविन्द उच्चतर प्राण, मध्यप्राण और निम्नतर प्राण के विषय में विस्तार से बताते हैं। उच्चतर प्राण है "प्राणिक मन और भावात्मक सत्ता।" मध्यप्राण है क्रिया, सम्वेदन और आवेग का कारण। निम्नतर प्राण है मानव-जीवन की सामान्य कामनाओं तथा तुच्छ आवेगों का कारण। एक स्थान पर वे लिखते हैं—"प्राण बहुत अच्छा सेवक है परन्तु बहुत बुरा स्वामी है।" प्राण के ऊपर मन की स्थिति है और दिव्यता के मार्ग के पथिक को प्राण से ही नहीं, मन से भी ऊपर जाना होगा।

धर्म

श्री अरविन्द के अनुसार सामान्य मानव-जीवन नैतिकता की कल्पना के सहारे चलता है, धार्मिक जीवन उससे ऊपर उठकर दिव्य चेतना की ओर मनुष्य को उन्मुख करता है, किन्तु सर्वोपरि है आध्यात्मिक जीवन जो दिव्य चेतना में जीना सिखाता है। निस्संदेह धर्म ने विज्ञान और बौद्धिकता से ऊपर उठकर कार्य करने की प्रेरणा तो दी किंतु प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय शीघ्र ही कर्मकांडों, रूढ़ियों आदि में ऐसा उलझ गया कि उसे अपने लक्ष्य का विस्मरण हो गया। धर्म ने अनेक व्यक्तियों को लाभ पहुंचाया और मानव-समाज को भी कुछ लाभान्वित किया किंतु पंथबद्ध जीवन ने मानव-एकता में तो बाधा डाली ही, आध्यात्मिक जीवन जीने का उद्देश्य भी भुला दिया क्योंकि प्रत्येक धर्म "मेरा मठ, मेरा मंदिर, मेरा शास्त्र, मेरा सम्प्रदाय' आदि के दम्भी नारे लगाने लगा। फिर भी मानव-जीवन में धर्म का अभी भी उपयोग है क्योंकि वह मानव के विकास का एक साधन है। आवश्यकता है सम्पूर्ण मानव-जाति के आध्यात्मिकीकरण की और भावी विश्वधर्म अर्थात सनातन धर्म यही करेगा।

अवतार

भारत में अवतार-तत्त्व को व्यापक मान्यता मिली है। श्री अरविन्द ने अवतार के स्वरूप, कार्य एवं उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कहीं है। मनुष्य में जो भगवान है, वह सनातन अवतार है, अवतरण है। इससे भिन्न है भागवत चैतन्य में मनुष्य जन्म लेकर आरोहण कर सके इसके लिए मानव-जाति के सम्मुख दिव्य उदाहरण प्रस्तुत करने वाले श्रीकृष्ण इत्यादि के रूप में भगवान का अवतार।" अवतार का आना होता है मानव-प्रकृति में भागवत प्रकृति को प्रकट करने के लिए, ईसा, कृष्ण और बुद्ध की भगवत्ता को अभिव्यक्त करने के लिए, जिसमें मानव प्रकृति अपने सिद्धांत, विचार, अनुभव, कर्म और सत्ता को ईसा, कृष्ण और बुद्ध के सांचे में ढालकर स्वयं भागवत प्रकृति में रूपान्तरित हो जाए। अवतार जो धर्म स्थापित करते हैं उसका मुख्य हेतु भी यही होता है।" ये अवतारी पुरुष अपने अन्दर से जिन मार्गों को बनाकर प्रकट करते हैं उसी पर मानवता का आह्वान करते हैं।

अवतार से भिन्न हैं आरोहणशील व्यक्ति या विभूतियां। "गीता हमें बतलाती है कि साधारण मनुष्य जिस प्रकार विकास को प्राप्त होता हुआ भागवत-जन्म को प्राप्त होता है उसका नाम अवतार नहीं है अपितु भगवान जब मानवता के अन्दर प्रत्यक्ष रूप में उतर आते हैं और मनुष्य के ढांचे को पहन लेते हैं तब वह अवतार कहलाते हैं।" और विभूति में भगवान की कोई एक शक्ति विशेष रूप से अभिव्यक्त होती है जिसके द्वारा वह जगत में वेग-पूर्वक कार्य कर सकता है। विभूति-पुरुष अवतार से इस बात में भी भिन्न होता है कि विभूति को "इस बात का ज्ञान नहीं होता कि उसके अन्दर देवत्व ने जन्म लिया है या वह देवत्व में निवास करता है।" किन्तु अवतार-पुरुष को सदा यह ज्ञात रहता है कि वह कौन है और धरती पर उसका क्या उद्देश्य है। श्री अरविन्द राम, कृष्ण, बुद्ध को अवतार स्वीकार करते हैं तथा शंकराचार्य और विवेकानन्द को विभूति—"यद्यपि विभूतियों के रूप में वे बहुत महान थे।" मुहम्मद और ईसा के सम्बन्ध में भी श्री अरविन्द के शब्द उल्लेखनीय हैं—"मुहम्मद ने स्वयं ही अपने अवतार होने की भावना का त्याग कर दिया था, इसलिए हमें उन्हें केवल पैगम्बर, यंत्र, विभूति मानना होगा। ईसा ने स्वयं को पुत्र के रूप में अनुभव किया जो पिता के साथ एक थे—अतः वह अवश्य ही अंशावतार थे।" कल्कि-अवतार के पौराणिक वर्णन को श्री अरविन्द प्रतीकात्मक वर्णन मानते हैं—"वह कोई भावी इतिहास की ब्योरेवार भविष्यवाणी नहीं है अपितु एक प्रतीकात्मक वर्णन है। जो कुछ व्यक्त किया गया है वह आगे होने वाला है, परन्तु वह सब प्रतीकात्मक ढंग से सूचित किया गया है, इससे अधिक कुछ नहीं।"

योग-साधना

पूर्ण योग

श्री अरविन्द का योग 'पूर्ण योग' है। इस योग का लक्ष्य है—"भागवत उपस्थिति और चेतना में प्रवेश करना और उनसे ओतप्रोत होना, भगवान से एकमात्र उन्हीं के लिए प्रेम करना, अपनी प्रकृति को भगवान की प्रकृति के साथ एक रूप करना और अपने संकल्प, कर्मों एवं जीवन को भगवान का यंत्र बनाना।" इस योग ने न तो मुक्ति को लक्ष्य बनाया है, न सिद्धियों को। इसका लक्ष्य तो केवल भगवान है तथापि इससे मुक्ति भी मिलेगी और अन्य वस्तुएं भी।

'पूर्ण योग' को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि 'योग' क्या है। 'योग' का अर्थ है वह विशेष साधन जिससे मनुष्य एक जन्म में ही या उससे भी कम अवधि में अपने विकास को पूर्ण कर सके। पूर्ण विकास तक पहुंचाने का दावा करने वाली हर पद्धति एक योग-पद्धति ही होगी। श्री अरविन्द के विचार में सम्पूर्ण प्रकृति अपने पूर्ण विकास के लिए अर्थात ब्रह्म से एक रूप होने के लिए योग कर रही है। और, जैसे वैज्ञानिक ने प्रकृति में पहले से ही विद्यमान विद्युत-शक्ति को केवल ठीक से पहचानकर अपने ज्ञान द्वारा अपने लिए उपयोगी बना लिया है वैसे ही योगी भी प्रकृति में पहले से ही उपस्थित विकास-क्रम को केवल ठीक से पहचान कर अपने ज्ञान द्वारा अपने लिए उपयोगी बना लेता है।

श्री अरविन्द के अनुसार सर्वोच्च, सर्वव्यापी, सर्वरूप ब्रह्म से एक होना ही 'योग' है। और इस कारण यथार्थ दृष्टि में तो "सम्पूर्ण जीवन ही योग है।"

जीवन का सबसे उत्तम उपयोग योग-साधना है क्योंकि यही स्वरूप में, आनन्दरूप में दिव्य चेतना में प्रतिष्ठित होने का मार्ग है। किन्तु, सभी मनुष्य इसकी आवश्यकता अनुभव नहीं करते। इसकी आवश्यकता वही समझ सकता है जो अपने आध्यात्मिक स्वरूप को पहचान सका है और जिसमें अपनी आध्यात्मिक सत्ता में ही जीने की आकांक्षा तीव्रता से जाग उठी है।

प्रचलित अन्य योग- पद्धतियों में और पूर्णयोग में अन्तर बताते हुए श्री अरविन्द ने कहा—"योग की पद्धति है मानव-जीवन की एक या सभी शक्तियों को ब्रह्म-

प्राप्ति के साधन के रूप में मोड़ देना। सामान्य योग में व्यक्ति की एक मुख्य शक्ति या शक्तियों का एक मुख्य वर्ग ही माध्यम, यंत्र या मार्ग बनाया जाता है। पूर्ण योग में समस्त शक्तियों को रूपान्तरकारी माध्यम में संयुक्त और समाविष्ट कर लिया जाता है।" इस पूर्णयोग-साधना में यह भी नहीं होता कि अधिक समय में कम परिणाम निकलें जैसे 'हठयोग' में, कि प्रारंभिक सफलता पाते-पाते ही जीवन समाप्त हो जाए।

श्री अरविन्द का योग—भारतीय योग-पद्धतियों का विकसित रूप

श्री अरविन्द के 'पूर्ण योग' को प्राचीन शास्त्रों में यथावत् नहीं पाया जा सकता किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पूर्णतया नवीन प्रयास है। पुराने योगों की तुलना में उसमें कुछ विशिष्टताएं कही जा सकती हैं यथा "इस योग का ध्येय है जीवन की दिव्य पूर्णता प्राप्त करना", निर्वाण इत्यादि अर्थात इस लोक से अन्यत्र जाकर आनन्द में निमग्न हो जाना नहीं। यह भी विशेपता है कि एक अतिमानसिक अर्थात विज्ञान-चेतना को पृथ्वी पर अवतरित करने का इसमें पहली वार प्रयास है। तथा यह भी विशेपता है कि इसमें "चेतना व प्रकृति के समग्र व सर्वांगीण विकास" का लक्ष्य है। तथापि फिर भी यह योग भारतीय योग-पद्धतियों का ही विकसित रूप है। श्री अरविन्द ने स्वयं इस वात को स्पष्ट करते हुए कहा था—"मैंने यह कभी नहीं कहा है कि मेरा योग अपने सभी तत्त्वों में कोई सर्वथा नवीन वस्तु है। मैंने इसे पूर्ण योग के नाम से पुकारा है और इसका अर्थ है कि यह पुराने योगों के सारतत्त्व और उनकी अनेक क्रियाओं को अपनाता है।" फिर भी श्री अरविन्द का न तो इसे नया कहने पर आग्रह है, न प्राचीन—"यह कोई महत्त्व की वात नहीं है कि यह नया कहकर पुकारा जाता है या प्राचीन विस्मृत योग की पुनरावृत्ति या पुनर्जागृति कहकर।" श्री अरविन्द ने जव कभी इसे नया योग कहा है तो इस अर्थ में ही कि पुरानी लकीर पीटने वाली ही यह योग नहीं है।

श्री अरविन्द पुराने योगों की निन्दा करना मूर्खता मानते थे—"पुराने योगों की इस प्रकार की निन्दा करना कि वे सर्वथा सुगम, महत्त्वहीन एवं निरर्थक हैं तथा वुद्ध एवं याज्ञवल्क्य की और भूतकाल के अन्य आध्यात्मिक महापुरुषों की निन्दा करना—क्या यह स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप में एक मूर्खतापूर्ण कार्य नहीं है?" अन्यत्र उन्होंने एक पत्र में लिखा था—"पुराने योगों और योगियों के सम्वन्ध में यह विचित्र मनोवृत्ति तुम्हें कहां से प्राप्त हुई? क्या वेदांत और तंत्र का ज्ञान कोई छोटी एवं तुच्छ वस्तु है?" वे पूछते हैं कि क्या इस आश्रम (श्री अरविन्द आश्रम) के ही सभी साधक जीवन्मुक्त हो चुके हैं और यदि ऐसा नहीं हुआ तो फिर वेदांतादि के लक्ष्य को उच्च न मानना कहां तक उचित है। इसी पत्र में एक स्थान पर वे कहते हैं—"नया कुछ भी नहीं! नया कुछ हो ही क्यों? आध्यात्मिक

खोज का उद्देश्य सनातन भव्य का अनुसंधान करना है न कि किसी कालगत नवीन का।"

योग मानवमात्र के लिए है

श्री अरविन्द के मत में योग-क्रियाओं को गुप्त रखना अथवा उन्हें रहस्यमय समझना अथवा उन्हें काल्पनिक, अवास्तविक समझना भ्रान्ति है। चूंकि प्राचीन काल से आज तक प्रायः योगी ऐसे ही लोग रहे हैं जो समाज-जीवन से कुछ दूर रहे, अतः यह धारणा बनी है कि योग के लिए जीवन से हटना आवश्यक है किन्तु वस्तुतः योग में ऐसा कुछ भी नहीं है जो सबके जानने योग्य या सबके अभ्यास योग्य न हो।" योग मानव-मनोविज्ञान के कुछ नियमों पर आधारित है। मन का शरीर के ऊपर तथा अन्तरात्मा का मन पर जो नियंत्रण है, उसके ज्ञान पर आधारित है। इसे गुप्त रखने का कारण यह माना गया था कि मानव अपनी अपात्रता से इस गंभीर ज्ञान का दुरुपयोग कर सकता है। अतः प्राचीन काल में "सीखने वाले के लिए यह नियम निर्धारित कर दिया गया कि वह अपनी अनुभूतियों को किसी से न कहे और विकसित योगी के लिए यह नियम बना कि वह यथासाध्य गुप्त रहे।" किन्तु अब बदली परिस्थितियों में, जब पश्चिम में योग के रहस्यों के अनुसंधान की प्रवृत्ति बढ़ रही है और उसे कुछ सफलता भी मिल रही है तब, भारत को अपना नियम बदलने की आवश्यकता है। "समय आ गया है जब भारत को अपना प्रकाश अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए, अपितु संसार में उसे उँडेल देना चाहिए। योग मानव मात्र को दिया जाना चाहिए, क्योंकि इसके बिना विकास में दूसरा पग नहीं उठ सकता।"

साधक की तीव्र आकांक्षा

श्री अरविन्द-साधना-प्रणाली में भागवती शक्ति का अनुग्रह तो महत्त्वपूर्ण है ही, उससे भी पहले आवश्यक है साधक की दिव्य रूपान्तरण के लिए तीव्र आकांक्षा। यह आकांक्षा यदि न हो, अथवा तीव्र न हो, तो भागवती शक्ति अपना अनुग्रह प्रकट नहीं करेगी क्योंकि वह "केवल प्रकाश और सत्य की स्थितियों में ही कार्य करती है···होना चाहिए पूर्ण और सच्चा समर्पण, भागवती शक्ति की ओर अनन्य आत्मोद्घाटन, सत्य जो नीचे अवतरण कर रहा है उसका निरन्तर, प्रतिक्षण अखंड ग्रहण।"

मानव-मन पूर्णतया अन्तर्मुखी होकर जब आत्मविकास में संलग्न होता है तब रूपान्तरण होना प्रारंभ होता है। मानव-मन की अन्तर्मुखता की तीव्रता को आकांक्षा की तीव्रता, मन की एकाग्रता और धैर्य से नापा जा सकता है। केवल मानसिक या बौद्धिक अन्वेषण व्यर्थ है, चाहिए हार्दिक आकांक्षा। साधक को परमतत्त्व के प्रति

पूर्ण आत्मसमर्पण करना होगा। यह अनिवार्य है और यही सच्ची आकांक्षा है।

यह आकांक्षा होनी चाहिए आध्यात्मिक न तो ज्ञानपरक अर्थात मानसिक, न विपत्तियों से शान्तिकामी अर्थात प्राणिक, न स्वस्थ शरीर चाहने वाली अर्थात शारीरिक आकांक्षा अपितु अपना दिव्य रूपान्तरण चाहने वाली आध्यात्मिक आकांक्षा, ब्रह्म से एक रूप होने की आकांक्षा।

श्री अरविन्द के अनुसार यह तीव्र आकांक्षा कभी बाह्य क्रियाओं से, हाहाकार से, व्याकुलता से प्रकट भी हो सकती है किन्तु यह अनिवार्य नहीं है। बस, चाहिए साधक में केवल उत्साह। वह अनिवार्य लक्षण है। साथ ही चाहिए मन की एकाग्रता जो उसके पश्चात आती है।

यदि दिव्य रूपान्तरण की तीव्र आकांक्षा साधक में जाग उठी है तो 'त्याग' भी अवश्य दिखाई देगा। त्याग अर्थात हमारी प्रकृति के सच्चे रूप को छिपाने वाले आवरणों का, मिथ्यात्व का त्याग। फिर भी त्याग मात्र एक साधन है, साध्य नहीं। और यह त्याग भी जीवन का त्याग, जीवन की उपेक्षा नहीं है; यह है जीवन में आसक्ति का त्याग अर्थात आन्तरिक त्याग, न कि बाह्य त्याग। आसक्ति और प्रेम में अन्तर है और इसीलिए तीव्र आकांक्षा के साथ जागने वाला त्याग 'आसक्ति' का त्याग है, प्रेम का त्याग नहीं, प्रेम में अहंभाव का त्याग है। और इसी कारण श्री अरविन्द-योग में साधक प्रेम से परिपूर्ण होने का प्रयत्न करता है। वह सभी के प्रति प्रेम रखता है परन्तु किसी के प्रति आसक्ति नहीं। दिव्य रूपान्तरण के सच्चे साधक को अनिवार्यतः आसक्ति का परित्याग तो यहां तक करना होता है कि आध्यात्मिक साधना की विभिन्न सिद्धियों में भी आसक्ति छोड़नी होती है। तीव्र आकांक्षा का यही अर्थ है कि साधक ब्रह्म को पूर्णतया पाए बिना कहीं विश्राम नहीं लेगा।

'समर्पण' का अर्थ

श्री अरविन्द की साधना-प्रणाली में अर्थात पूर्ण योग में 'समर्पण' का बड़ा महत्त्व है। समर्पण बाह्य भी होना चाहिए और आन्तरिक भी। बाह्य समर्पण का अर्थ है उन बातों का परित्याग जो साधना में बाधक हैं अथवा गुरु के आदेशों का पालन अथवा भगवान से मिलने वाले सन्देशों के अनुसार श्रद्धापूर्वक कार्य करना। "आन्तरिक समर्पण का सार है भगवान पर विश्वास तथा भरोसा।" और "यदि कोई भगवान को चाहे तो भगवान स्वयं उसका हृदय पवित्र करने का भार अपने ऊपर ले लेंगे और उसकी साधना विकसित करेंगे तथा उसे आवश्यक अनुभूतियां प्रदान करेंगे। निःसन्देह ऐसा हो सकता है तथा होता भी है परन्तु इसके लिए मनुष्य को भगवान पर विश्वास एवं भरोसा होना चाहिए, उसमें भगवान के प्रति समर्पण का संकल्प होना चाहिए।"

भक्ति की महिमा

श्री अरविन्द के योग में भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाव को वे मानव की एक अत्युच्च शक्ति मानते हैं तथा यह बताते हैं कि "भाव जितना अधिक गहरा होता है, भक्ति उतनी ही अधिक तीव्र होती है, साक्षात्कार और रूपान्तर के लिए शक्ति भी उतनी ही अधिक महान होती है। प्रायः भाव की तीव्रता से ही हृत्पुरुष जागता है और आंतरिक किवाड़ों का भगवान की ओर उद्‌घाटन होता है।"

भगवान के प्रति प्रेम का स्वरूप

श्री अरविन्द प्रेम को 'प्राणगत इच्छा' से भिन्न व ऊंचा मानते हैं। परमात्मा से प्रेम किया जाना चाहिए, कामनापूर्ण सौदा नहीं। इसको 'आत्मदान' कहा जा सकता है। उसमें मांग नहीं होती, समर्पण-भाव होता है। साधारण मनुष्य अपने व्यवहार में जिसे 'प्रेम' कहते हैं, वह 'आत्मदान' नहीं होता, इसलिए 'प्रेम' भी नहीं होता। वह "केवल प्राणगत इच्छा है, स्वायत्त करने की सहजप्रवृत्ति है, अधिगत करने और एकाधिकार जमाने का आवेग है।" भगवान से सच्चा प्रेम करने पर बदले में भगवती माता का, भगवान का प्रेम भी मिलता है—"अपने प्रेम को सभी स्वार्थपूर्ण दावों और कामनाओं से मुक्त रखो, तुम देखोगे कि तुम्हें उसके उत्तर में वह सब प्रेम प्राप्त होने लगता है, जिसे तुम सहन कर सकते हो और पचा सकते हो।"

श्री अरविन्द मानवीय प्रेम का विश्लेपण करते हुए बताते हैं कि "मानवीय प्रेम जिन वस्तुओं से बना है, वे हैं भाव, तीव्र राग और कामना, ये सभी प्राणिक चेष्टाएं हैं, और इसीलिए मानवीय प्रेम मानवीय प्राणमय प्रकृति की दुर्बलताओं से बद्ध होता है।" तथापि वे मानवीय प्रेम को स्वरूपतः भगवान के प्रति प्रेम ही मानते हैं—"पुरुष के प्रति प्रेम, स्त्री के प्रति प्रेम, वस्तुओं के प्रति प्रेम, अपने पड़ोसियों के प्रति प्रेम, अपने देश के प्रति प्रेम, पशुओं के प्रति प्रेम, मनुष्य जाति के प्रति प्रेम आदि भगवान के प्रति प्रेम ही है जो इन सजीव प्रतिमाओं के अन्दर प्रतिफलित होता है।"

श्री अरविन्द उन मनुष्यों पर आश्चर्य प्रकट करते हैं जो भगवान से प्रेम तो करते हैं परन्तु मनुष्यों से नहीं—"यह एक अद्‌भुत चमत्कार है कि मनुष्य भगवान को तो प्यार कर सकते हैं परंतु मनुष्यों को प्यार करने में असमर्थ होते हैं। तब भला वे किससे प्रेम करते हैं!" पूर्ण ज्ञान की ओर ले जाने वाली जिन दो बातों की ओर वे ध्यान आकृष्ट करते हैं, उनमें ईश्वर-प्रेम भी है, मानव-प्रेम भी—"भगवान के प्रति प्रेम, मनुष्यों के प्रति उदारता—बस यही पूर्ण ज्ञान की ओर जाने का पहला पग है।"

श्री अरविन्द बताते हैं कि परमात्मा के प्रति "घनीभूत प्रेम में निराली गंभीरता होती है जिसकी थाह नहीं ली जा सकती।" किंतु प्रेम की इस साधना में ज्ञान का भी महत्त्व है, शक्ति का भी और उनके अभाव में संकीर्णता, क्षुद्रता आ जाती है और "क्षुद्र, संकीर्ण मन, प्राण और हृदय में प्रेम का स्थान नहीं।"

पूर्ण योग का मार्ग कठिन

निस्सन्देह श्री अरविन्द अपने पूर्ण योग को सरल मार्ग कहकर लोगों को आकृष्ट नहीं करते। वे स्वीकार करते हैं कि "यह योग सचमुच कठिन है" परन्तु साथ ही यह भी पूछते हैं कि "क्या कोई भी योग-मार्ग वास्तव में सरल है? तुम विश्वातीत निरपेक्ष ब्रह्म में लय रूप मुक्तावस्था के आकर्षण की बात कहते हो, किन्तु ऐसे व्यक्ति कितने हैं जो निर्वाण के मार्ग पर चलकर इस जन्म में या सुदीर्घ, कठोर अविश्रान्त और कठिन प्रयास के बिना उसे प्राप्त कर लेते हैं?" सभी मार्गों में, भक्ति मार्ग में भी, 'नीरसता की घड़ियां' आती हैं, कभी-कभी प्रारम्भ में ही आती हैं और इसलिए वे कहते हैं—"सब पुरातन साधना-प्रणालियां यह बात स्वीकार करती थीं और इसी कारण गीता में कहा गया है कि योगाभ्यास धीर-स्थिर भाव से करना चाहिए—ऐसे हृदय से जो अपने को निराशा से आच्छन्न न होने दे। यह एक ऐसा उपदेश है जो इस मार्ग के लिए संगत है।...असंतोष के उद्‌गार तुम भले ही प्रकट करो—यदि तुम्हारी प्रकृति तुम्हें इसके लिए विवश करती है—किन्तु योग में धैर्यपूर्वक लगे रहो।"

कठिनाई

प्रत्येक साधना में कठिनाइयां आती ही हैं किंतु उन पर विजय प्राप्त करने में ही साधना में सफलता मिल सकती है। श्री अरविन्द के अनुसार इन कठिनाइयों से त्राण पाने के लिए व्यक्ति यदि भागे तो भी कठिनाई उसे छोड़ेगी नहीं उसके पीछे-पीछे दौड़ेगी। यदि व्यक्ति निरन्तर कठिनाइयों का ही चिंतन करता रहे तो भी उनसे बाहर निकल ही नहीं सकता। अतः "कठिनाई वास्तव में भीतर है, बाहर नहीं" यह जानकर मन पर विजय प्राप्त करना ही कठिनाइयों को जीतने का राजमार्ग है।

दृढ़ निश्चय चाहिए

श्री अरविन्द-साधना-पथ में दृढ़ निश्चय की बड़ी आवश्यकता है क्योंकि "योग आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभव का विषय है, विचारों का नहीं।...योग का अभिप्राय है चेतना का परिवर्तन" और उसके लिए दृढ़ निश्चयी मन की आवश्यकता है। इसलिए श्री अरविन्द अपने एक शिष्य को एक पत्र में बताते हैं—"यदि तुम योगमार्ग में कुछ भी करना-धरना चाहते हो तो तुम्हें अपने अनुसरणीय पथ

का निर्णय एक बारगी कर लेना होगा।···यदि तुम अतीत से बंधे हुए हो तो उस ओर लौट जाओ और तब तुम जो मार्ग चुनो उसका अनुसरण करो; परन्तु यदि तुम उसके स्थान पर इस योग-मार्ग का वरण करते हो तो तुम्हें अवश्य ही एकचित्त होकर स्वयं को इस पर उत्सर्ग कर देना चाहिए।"

मानव—उपयोगिता का विचार और योग

प्रायः हर बात में मानव-उपयोगिता की कसौटी मानकर चलना आजकल की एक प्रथा-सी हो गई है। श्री अरविन्द से भी प्रायः यह प्रश्न किया जाता था कि उनके योग का मानव-जाति के लिए क्या उपयोग है, उनके आश्रम का मानव-जाति के लिए क्या उपयोग है इत्यादि। निस्सन्देह इसका उत्तर श्री अरविन्द उपयोग बताकर भी दे सकते थे क्योंकि अतिमानसिक चेतना में कुछ मानवों के उन्नयन से अंततः समग्र मानव-जाति को ही लाभ होता है फिर भी श्री अरविन्द ने इस प्रकार से उत्तर देने के स्थान पर एक अन्य रीति से स्पष्ट उत्तर दिया था जो बड़े महत्त्व का है। उन्होंने लिखा था—'मानव-जाति के लिए उपयोगिता' का विचार पुरानी भ्रांति है जो पश्चिम से आए मौलिकताहीन विचारों से जन्मी है। स्पष्ट ही है कि मानव-जाति के लिए 'उपयोगी' होने की दृष्टि से योग की कुछ आवश्यकता नहीं, जो कोई भी व्यक्ति मानव-जीवन विताता है वह बिना योग के भी किसी न किसी प्रकार मानव-जाति के लिए उपयोगी होता है।" उन्होंने आगे एक सूत्र में अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया था—"योग भगवान को लक्ष्य करके किया जाता है, न कि मनुष्य को।"

साधक, साधना और साधन

श्री अरविन्द साधना में साधक-साधक का अधिकार-भेद मानते हैं। सभी के लिए एक साधना-पद्धति न ग्राह्य हो सकती है, न उपयोगी। श्री अरविन्द की योग-पद्धति में आत्मसमर्पण की प्रधानता है—"योग-साधना करने का यही अर्थ है कि मनुष्य सब प्रकार की आसक्तियों पर विजय प्राप्त करता तथा एकमात्र भगवान के अभिमुख होने का संकल्प रखता है। योग में सबसे प्रधान बात यही है कि प्रत्येक पग पर भागवत कृपा पर विश्वास रखते हुए अपने विचारों को निरंतर भगवान की ओर परिचालित करते हुए तब तक स्वयं को समर्पित किया जाए जब तक हमारी सत्ता का उद्घाटन न हो जाए और जब तक हम यह अनुभव न करने लगें कि हमारे आधार में माँ की शक्ति कार्य कर रही है।"

साधना में साधन का बड़ा महत्त्व है किंतु साधन लक्ष्य नहीं हो सकता—"साधन, साध्य नहीं, हमारा जो साधन है, दूसरे का वह साधन नहीं भी हो सकता है।" अतः साधन-विशेष का महत्त्व, साधक-विशेष के लिए ही होता है। वस्तुतः साधक की

सफलता के लिए अपनी साधना-पद्धति में दृढ़ विश्वास आवश्यक है। साधक दृढ़ निश्चयी होना ही चाहिए—"साधक तभी सफल हो सकता है जब वह अन्तर की गहराई से आत्मोत्सर्ग करे और परमपथ पर पूर्ण दृढ़ता से डटा रहे।" सच्ची साधना का लक्षण उसकी अखंडता में मिलता है—"सच्ची गति तो वह है जब मनुष्य चलते-फिरते, काम-काज करते या बोलते-चालते भी साधना में रहे।"

विकास का मार्ग अपना-अपना

श्री अरविन्द यह मानते रहे कि आत्मा के विकास में प्रत्येक मानव को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह कौन-सा मार्ग चुनेगा। वे पात्र-भेद से साधना-भेद तो मानते ही थे, एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात भी इसी सन्दर्भ में उन्होंने एक बार अपनी शिष्य-मंडली से कही थी। उनका कहना था कि यदि किसी व्यक्ति में आध्यात्मिक प्यास नहीं जागी है या वह किसी विशेष सिद्धि में ही रुचिशील है तो उसे ठेल-ठालकर उसकी रुचि के विपरीत आध्यात्मिकता के मार्ग पर ढकेलना या सिद्धि-साधना से विरत करना अनुचित है।" हर व्यक्ति आध्यात्मिक हो ही जाए इसकी क्या आवश्यकता है ? जो सिद्धि प्राप्त करना चाहें, अवश्य करें। मेरा तात्पर्य यह है कि यदि वे जीवन में केवल यही कर सकते हैं तो उन्हें यह करने दो।···उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति अच्छी कविता लिख सकता है तो उससे जीवन में सब अच्छी बातें कर डालने की आशा क्यों की जाए ? एक ही कार्य अच्छी तरह हो जाए। इसी प्रकार आत्मा का विकास होता है।"

यज्ञ-भावना से कर्म

श्री अरविन्द के विचार-दर्शन में समर्पण-भाव की अत्यधिक महत्ता है। उनके अनुसार प्रत्येक कार्य को परमात्मा के यंत्र के रूप में करने की भावना अर्थात यज्ञ-भावना से करना चाहिए। परोपकार को साधारणतया एक अच्छा गुण माना जाता है और वह सर्वसामान्य की दृष्टि से है भी, किन्तु श्री अरविन्द उसमें छिपे अहंभाव का संकेत करते हैं—"परोपकार का, चाहे वह कितना भी ऊंचा हो, एक अहंभावपूर्ण उद्देश्य होता है। हमें उससे परे देखना है।···हमें परमात्मा के लिए यज्ञ की भावना से कार्य करना है और इसलिए मानसिक आदर्शों व निर्माणों के परे जाना है।"

राजनीति और आध्यात्मिकता

श्री अरविन्द के अनुसार आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए राजनीतिक कार्य कर्तव्य हो सकते हैं परन्तु 'राजनीति' के रूप में नहीं, आध्यात्मिक कर्म के रूप में ही अर्थात भगवान की इच्छा या भगवान के आदेश के रूप में ही। उसकी प्रेरणा राजनीति

में वह नहीं हो सकती जो अन्य मानवों की होती है और जो भौतिक चेतना तक ही सीमित है—न तो पद, न यश, न लोभ, न और कुछ। उनके शब्द में—"यदि आध्यात्मिक पुरुष अपने देश के लिए कोई कार्य करता है तो वह उसे भगवान की इच्छा पूरी करने के लिए तथा भगवान द्वारा नियत कर्म के अंग के तौर पर ही करता है, न किसी अन्य सामान्य मानवीय प्रेरक भाव के वश।"

ओ३म्

श्री अरविन्द 'ओ३म्' की मंत्र रूप में पारस्परिक प्रतिष्ठा को यथार्थ घोषित करते हैं। उनके शब्दों में—"ओ३म् एक विशेष मन्त्र है, ब्रह्म चेतना को उसके चारों प्रदेशों में···प्रकट करने वाला ध्वनि प्रतीक है।"

गायत्री-मंत्र

श्री अरविन्द ने 'गायत्री-मंत्र' की महानता के सम्बन्ध में अनेक बार अपने विचार व्यक्त किए थे। एक स्थान पर वे लिखते हैं—"गायत्री का प्रभाव दिव्य सत्य है। वह परम ज्ञान का मंत्र है।" श्री नर्मदा शंकर व्यास नामक जिज्ञासु को उन्होंने योग-शिक्षा लेने के लिए आने पर गायत्री-तत्त्व की ही शिक्षा दी थी। श्री अरविन्द ने उन्हें गायत्री मंत्र का अर्थ बताकर उसके रहस्य की व्याख्या की थी। 'सविता' अर्थात सूर्य उस दिव्य प्रकाश का प्रतीक है जो अवरोहण कर रहा है और 'गायत्री' है वह मानव आकांक्षा जो मन की समस्त क्रियाएं प्रेरित करने वाले उस प्रकाश का आह्वान कर रही है। श्री अरविन्द के अनुसार इस दिव्य प्रकाश को न केवल मन, अपितु, प्राण व शरीर तक को आप्लावित करने की भावना करते हुए मंत्र-जाप करना चाहिए।

धन

श्री अरविन्द धन-संपत्ति को विश्व-निर्मात्री शक्ति का एक स्थूल चिह्न मानते हैं। वे धन से भागने की आवश्यकता नहीं समझते क्योंकि वह एक शक्ति है और उसके ठीक उपयोग से उच्चतर शक्ति प्राप्त की जा सकती है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—"धन-शक्ति और उससे प्राप्त होने वाले साधनों और पदार्थों से तुम्हें वैरागियों की भांति भागना नहीं चाहिए और न इनकी कोई राजसी आसक्ति या इनके मार्ग में पड़े रहने की दासत्व वृत्ति का ही पोषण करना चाहिए।" उनका दृष्टिकोण ट्रस्टी के रूप में धन को देखने का है—"सारा धन भगवान का है, और यह जिन लोगों के हाथ में है वे उसके ट्रस्टी हैं, स्वामी नहीं। आज यह उनके पास है, कल कहीं और चला जा सकता है।" साथ ही वे यह भी बताते हैं कि केवल धनी होना ही पर्याप्त नहीं है—"कोई मनुष्य धनी है केवल इसीलिए उसके सामने

सिर नीचा मत करो।"

भोजन

श्री अरविन्द ने अपने शिष्यों को 'भोजन' के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें समय-समय पर निर्देश रूप में लिखी थीं। वे आहार के लिए आसक्ति को मना करते हैं—"आहार के लिए आसक्ति होना, उसके लिए लोभ और बेचैनी का होना, जीवन में उसे आवश्यकता से अधिक महत्त्व की चीज बना देना—यह सब यौगिक भाव के विपरीत है।···जब आहार स्वादिष्ट न हो अथवा प्रचुर मात्रा में प्राप्त न हो तो उससे विक्षुब्ध या असंतुष्ट न होकर, साधक को सम और स्थिर बने रहना चाहिए।···भोजन के लिए न तो उत्सुकता ही होनी चाहिए और न अरुचि।··· भोजन के प्रश्न को, बस जीवन में उसका जो उचित स्थान है वहां, एक छोटे से कोने में, रख दो और उसके ऊपर मन को एकाग्र न कर अन्य विषयों पर एकाग्र करो।" उन्होंने अन्यत्र लिखा था—"आध्यात्मिक दृष्टि में भोजन का प्रभाव जितना उसके साथ आने वाले गुह्य वातावरण और प्रभावों पर निर्भर करता है उतना स्वयं भोजन के अन्दर की किसी वस्तु पर नहीं।···निरामिष भोजन···की मूल भावना यह है कि अपने पेट की तृप्ति के लिए अधिक चेतन प्राणियों को पीड़ा नहीं पहुंचानी चाहिए।" एक अन्य पत्र में उन्होंने लिखा था—"भोजन करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि भोजन की वासना या लालसा अवश्य हो। योगी वासना से प्रेरित होकर भोजन नहीं करता अपितु शरीर को बनाए रखने के लिए करता है।"

श्री अरविन्द भोजन न करने के विचार को ठीक नहीं मानते। उपवास-काल में प्राण शक्ति तो बढ़ती है किन्तु भौतिक तत्त्व नष्ट होता है जो प्राण का आधार है और शरीर को दुर्बल करना, उससे घृणा करना श्री अरविन्द की शिक्षा के विरुद्ध है—"शरीर ही साधना का आधार है और उसे अच्छी अवस्था में रखना ही चाहिए। उसके प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिए परन्तु साथ ही अपनी प्रकृति के इस जड़भाग के प्रति घृणा या उपेक्षा का भाव भी नहीं होना चाहिए।" उपवास के विषय में श्री अरविन्द का मत यही है कि दुर्बल स्नायु वाले लोगों के लिए उपवास हानिकर है।

गंभीर कार्य में प्रचार विष-तुल्य

गंभीर कार्य में लगे हुए महापुरुष अपनी प्रसिद्धि की चिंता न करें यह तो भारतीय संस्कृति की विशेषता है ही, स्वयं प्रचार भी भौतिकवादी दृष्टिकोण से ही उपयोगी है। श्री अरविन्द ने एक बार एक पत्र में लिखा था—"पुस्तकों आदि के अतिरिक्त अन्य चीजों के विज्ञापन में मुझे विश्वास नहीं है···गंभीर कार्य के लिए

तो प्रचार विष ही है। इसका अर्थ होता है प्रदर्शन या नारेबाजी। प्रदर्शन तथा हो-हल्ला जिस चीज का नारा लगाते हैं उसे सत्त्वहीन कर डालते हैं···अथवा इस विज्ञापन एवं प्रचार का अर्थ होता है आन्दोलन। जैसा मेरा काम है वैसे काम के लिए आंदोलन का आशय होता है किसी मत-सम्प्रदाय या और किसी निरर्थक वस्तु की स्थापना। उनके अन्यत्र लिखित ये विचार भी ध्यान देने योग्य हैं— "सुप्रसिद्ध या अप्रसिद्ध होने का आध्यात्मिक दृष्टि से तनिक भी महत्त्व नहीं है। यह केवल प्रचार की भावना है। हम कोई ऐसा दल या मठ-मंदिर या धर्म-मत नहीं हैं जो अनुयायियों या नए शिष्यों की खोज किया करता है। सच्चे हृदय से योग का अनुसरण करने वाला एक मनुष्य सहस्रों सुप्रसिद्ध मनुष्यों से अधिक महत्त्व का है।

श्री माता जी तथा श्री अरविन्द-आश्रम

श्री अरविन्द के देहावसान के पश्चात उनके कार्य को चलाने वाली श्री माता जी हैं जिनकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता को श्री अरविन्द ने अत्यंत स्पष्ट रूप में बार-बार स्वीकारा है और जो उनके जीवन-काल में ही श्री अरविन्द-आश्रम की संस्थापिका, संचालिका बनीं तथा साधकों की मार्गदर्शिका बनीं। उन्होंने श्री माता जी की और अपनी चेतना का एक ही उद्देश्य बताते हुए साधकों को श्री माता जी के प्रति समर्पण-भाव रखने की निरन्तर शिक्षा दी थी। "जितना ही अधिक माता जी के साथ एकत्व बढ़ता जाए उतना ही वह साधना के लिए अच्छा है।"

श्री अरविन्द-आश्रम कोई परम्परागत योग सिखाने वाला आश्रम नहीं है जहां मोक्ष-प्राप्ति के इच्छुक साधक रहते हों। श्री अरविन्द के अनुसार "यह आश्रम दूसरे आश्रमों की तरह नहीं है। न यहां के सदस्य संन्यासी हैं और न यहां योग का एकमात्र लक्ष्य मोक्ष है। यहां जो कुछ किया जा रहा है वह एक ऐसे कर्म की तैयारी है जिसका आधार यौगिक चेतना और योगशक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।" श्री अरविन्द ने आश्रम के विषय में अन्यत्र लिखा था—"प्रत्येक मनुष्य आश्रम का सदस्य है जो आश्रम आत्मदान और समर्पण के सिद्धान्त पर स्थापित हैं। यहां प्रत्येक मनुष्य भगवान का है और जो कुछ उसके पास है वह सब भगवान का है।—यहां मूल्य और बदले का कोई प्रश्न नहीं, कोई मोल-तोल नहीं, किसी मांग और कामना के लिए स्थान नहीं। माता जी ही एकमात्र अधिकारिणी हैं···।"

परिशिष्ट (क)

श्री अरविन्द का उत्तरपाड़ा-भाषण

"जब मुझे आपकी सभा के इस वार्षिक अधिवेशन में बोलने के लिए कहा गया तो मैंने यही सोचा था कि आज के लिए जो विषय चुना गया है उसी पर, अर्थात् 'हिन्दू धर्म' पर कुछ कहूंगा। मैं नहीं जानता कि उस इच्छा को मैं पूरा कर सकूंगा या नहीं; क्योंकि जैसे ही मैं यहां आकर बैठा, मेरे मन में एक सन्देश आया और वह सन्देश आपको और सारे भारत राष्ट्र को सुनाना है। यह वाणी मुझे पहले-पहल जेल में सुनाई दी थी और उसे अपने देशवासियों को सुनाने के लिए मैं जेल से बाहर आया हूं।

"वर्ष-भर से कुछ अधिक हुआ जब मैं पहली बार यहां आया था। जब मैं आया था तो अकेला नहीं था। राष्ट्रवाद के प्रबलतम अग्रदूतों में से एक मेरे पास विराजमान थे। वे उस समय भगवत्-निर्दिष्ट एकान्तवास से बाहर आए थे। भगवान् की वाणी सुनने के लिए ही वे अपनी कालकोठरी की उस नीरवता और एकान्तवास में गए थे। आप तब सैकड़ों लोग उन्हीं का स्वागत करने आए थे। अब वे हमसे सहस्रों मीलों की दूरी पर पृथक् किए हुए, बहुत दूर हैं। अन्य लोग जिनको अपने साथ कार्य करते देखना मेरा स्वभाव बन गया था आज अनुपस्थित हैं। जो तूफान देश पर आया था उसने उन्हें इधर-उधर बिखेर दिया है। इस बार मैंने एक वर्ष एकान्तवास में बिताया है और अब बाहर आकर देख रहा हूं कि सब-कुछ परिवर्तित हो गया है। वह (लोकमान्य तिलक) जो मेरे पास सदैव बैठा करते थे और मेरे कार्य में सहयोगी थे, बर्मा में बन्दी हैं और दूसरे (लाला लाजपतराय) उत्तर में नज़रबन्दी में सड़ रहे हैं। जब मैं जेल से छूटा तो मैंने उनके लिए दृष्टि दौड़ाई जिनसे परामर्श और प्रेरणा पाने का मैं अभ्यस्त था। किन्तु वे नहीं मिले। इससे भी कुछ अधिक हुआ है।

"जब मैं जेल गया था तो सारा देश 'वन्दे मातरम्' की ध्वनि से गूंज रहा था, वह एक राष्ट्र बनने की आशा से जीवित था। यह उन करोड़ों मनुष्यों की आशा थी जो गिरी हुई दशा से अभी-अभी ऊपर उठे थे। जब मैं जेल से बाहर आया तो

मैंने इस ध्वनि को सुनने की कोशिश की, किन्तु इसके स्थान पर निस्तब्धता थी। देश में सन्नाटा था और लोग हक्के-बक्के से दिखाई दिए; क्योंकि जहां पहले हमारे सामने भविष्य की कल्पना से भरा ईश्वर का उज्ज्वल स्वर्ग था, वहां हमारे सिर पर धूसर आकाश दिखाई दिया जिससे मानवीय वज्र और बिजली की वर्षा हो रही थी। किसी को यह नहीं दिखाई देता था कि किस ओर चलना चाहिए। चारों ओर से यही प्रश्न उठ रहा था, 'अब क्या करें ? हम क्या कर सकते हैं ?'

"मुझे भी नहीं पता था कि किधर जाना चाहिए। मुझे भी नहीं पता था कि आगे क्या करना चाहिए। परन्तु एक बात मुझे पता थी कि भगवान् की जिस सर्वसमर्थ शक्ति ने वह ध्वनि, वह आशा उठाई थी, उसी शक्ति ने उसे शान्त भी किया है। वह भगवान् जो जयकारों और गतिविधियों में था, वही इस विराम और नीरवता में भी है। उसने ऐसा इसलिए किया है कि यह राष्ट्र एक क्षण पीछे हटे और आत्मदर्शन करे तथा भगवत्-इच्छा को जान ले। मैं इस नीरवता से निराश नहीं हुआ हूं क्योंकि कारागार में नीरवता का मैं अभ्यस्त हो चुका हूं और चूंकि मैं जानता था कि अपनी वर्ष-भर की लम्बी नज़रबन्दी में मैंने विराम और नीरवता के मध्य ही यह पाठ पढ़ा था। जब विपिनचन्द्र पाल जेल से लौटे थे, वह एक संदेश लेकर आए थे और वह एक प्रेरित सन्देश था। मुझे उनका वह भाषण याद है जो उन्होंने यहां दिया था। वह भाषण सामग्री तथा उद्देश्य की दृष्टि से उतना राजनीतिक नहीं था, जितना धार्मिक। उन्होंने जेल में अपने ईश्वर-साक्षात्कार, सब में विद्यमान ईश्वर तथा राष्ट्र में विद्यमान ईश्वर के विषय में भाषण दिया था और अपने बाद के भाषणों में उन्होंने आन्दोलन की असाधारण शक्ति तथा इसके असाधारण प्रयोजन पर प्रकाश डाला था।

"आज मैं आपसे फिर मिल रहा हूं, मैं भी जेल से बाहर आया हूं और इस बार भी आप ही, इस उत्तरपाड़ा के निवासी ही, मेरा सबसे पहले स्वागत कर रहे हैं। किसी राजनीतिक सभा में नहीं, बल्कि उस समिति की सभा में जिसका उद्देश्य है धर्म की रक्षा। जो सन्देश विपिनचन्द्र पाल ने बक्सर-जेल में पाया था, वही भगवान् ने मुझे अलीपुर में दिया। वह ज्ञान भगवान् ने मुझे बारह महीने के कारावास में दिन-प्रतिदिन दिया और अब जब मैं जेल से बाहर आ गया हूं तो उनका आदेश है कि मैं आपसे उसकी बात करूं।

"मैं जानता था कि मैं छूटकर आऊंगा। एक वर्ष की नज़रबन्दी वर्ष-भर के एकान्तवास तथा प्रशिक्षण के लिए थी। ईश्वरीय प्रयोजन से अधिक समय के लिए मुझे बन्द रखने की सामर्थ्य किसमें हो सकती थी ? भगवान् ने कहने के लिए एक सन्देश दिया था और करने के लिए एक काम और, मैं यह जानता था कि जब तक यह सन्देश सुना नहीं दिया जाता तब तक कोई मानव-शक्ति मुझे चुप नहीं कर सकती। जब तक वह काम नहीं हो जाता तब तक कोई मानव-शक्ति भगवान्

के यन्त्र को रोक नहीं सकती, फिर वह यन्त्र चाहे कितना ही दुर्बल, कितना ही कमज़ोर क्यों न हो। अब जब मैं बाहर आ गया हूं, तो इन कुछ मिनटों में ही आपको देने के लिए एक सन्देश का भगवान् ने मुझे परामर्श दिया है जिसे मैं बोलने की इच्छा लेकर नहीं आया था। जो मेरे मन में बात थी वह भगवान् ने निकाल फेंकी और जो मैं बोल रहा हूं, प्रेरणा और बाध्यता के कारण।

"जब मैं बन्दी बनाया गया था और लालबाज़ार की हवालात में ले जाया गया था तो मेरा विश्वास क्षण-भर को डिग गया था, क्योंकि मैं भगवान् के अभिप्राय को जान नहीं सका था। अतः मैं क्षण-भर को लड़खड़ाया और हृदय में भगवान् से पूछा—'यह क्या हुआ ? मेरा विश्वास था कि अपने देशवासियों के लिए कार्यान्वित करने को मेरे पास एक उद्देश्य था और जब तक वह कार्य सम्पन्न न हो, मुझे तुम्हारा संरक्षण मिलना चाहिए। तब मैं यहां क्यों हूं और क्यों ऐसे अभियोग के साथ ?' एक दिन बीता और फिर दूसरा व तीसरा भी, और तब अन्दर से एक वाणी सुनाई दी—'प्रतीक्षा करो और देखो !' तब मैं शांत हो गया और प्रतीक्षा करने लगा।

"मैं लालबाज़ार थाने से अलीपुर-जेल में ले जाया गया और वहां मुझे एक महीने के लिए मनुष्यों से दूर एक निर्जन कालकोठरी में रखा गया। वहां मैं अपने अन्दर विद्यमान भगवान् की वाणी सुनने के लिए, यह जानने के लिए कि वे मुझसे क्या कहना चाहते हैं और यह सीखने के लिए कि मुझे क्या करना होगा, रात-दिन प्रतीक्षा करने लगा। इस एकान्तवास में मुझे सबसे पहली अनुभूति हुई, पहली शिक्षा मिली।

"मुझे तब स्मरण आया कि बन्दी होने से एक मास या कुछ अधिक पहले, मुझे यह आदेश मिला था कि सब गतिविधि रोक दूं, एकान्तवास करूं और अपने अन्दर देखूं जिससे भगवान् से अधिक समीपी सम्बन्ध स्थापित हो सके। मैं दुर्बल था और इस आदेश को स्वीकार नहीं कर सका। मुझे अपना कार्य अत्यन्त प्रिय था और अपने हृदय के अभिमान के वश मैंने यह सोचा कि जब तक मैं नहीं रहूंगा, इस कार्य की हानि होगी, तथा यह असफल और बन्द भी हो सकता है। अतः मैंने इसे नहीं छोड़ा।

"ऐसा बोध हुआ कि वे मुझसे फिर बोले और उन्होंने कहा कि, 'तुम्हारे करने के लिए मैंने दूसरा काम चुना है और उसीके लिए मैं तुम्हें यहां लाया हूं ताकि मैं तुम्हें यह बात सिखा दूं जिसे तुम स्वयं नहीं सीख सके और तुम्हें अपने काम के लिए तैयार कर लूं।' इसके बाद भगवान् ने मेरे हाथों में गीता रख दी। मेरे अन्दर उनकी शक्ति प्रवेश कर गई और गीता की साधना करने में समर्थ हुआ। मुझे केवल बौद्धिक रूप से ही यह नहीं समझना था अपितु अनुभूति भी करनी थी कि श्रीकृष्ण अर्जुन से क्या अपेक्षा रखते हैं और उनसे क्या अपेक्षा रखते हैं जो

श्रीकृष्ण का कार्य करने के आकांक्षी हैं अर्थात् राग-द्वेष से मुक्त होना, विना फल की इच्छा के भगवान् का कार्य करना, अपनी इच्छा को त्याग देना और उनके हाथों में निष्क्रिय और निष्ठावान यंत्र वन जाना, ऊंच-नीच, मित्र-शत्रु, सफलता-असफलता में समदर्शी हो जाना और फिर भी उनके कार्य को शिथिलतापूर्वक न करना। मैंने हिन्दू धर्म के अर्थ का साक्षात्कार किया। वहुधा हम हिन्दू धर्म, सनातन धर्म की वातें करते हैं, किन्तु वास्तव में हममें से कम ही लोग यह जानते हैं कि यह धर्म क्या है। दूसरे धर्म मुख्य रूप से विश्वास और व्रत-दीक्षा वाले धर्म हैं किन्तु सनातन धर्म तो स्वयं जीवन ही है। यह उतनी विश्वास करने की चीज़ नहीं है, जितनी जीने की। यही वह धर्म है जिसका लालन-पालन मानव-जाति के कल्याण के लिए प्राचीन काल से इस प्रायद्वीप के एकांतवास में होता आ रहा है। यही धर्म देने के लिए भारत उठ रहा है। भारतवर्ष, दूसरे देशों की तरह, अपने लिए ही या सशक्त होकर दुर्वलों को कुचलने के लिए नहीं उठा करता है। वह उठ रहा है सारे संसार पर उस सनातन ज्योति को विकीर्ण करने के लिए जो उसे सौंपी गई है। भारत का जीवन सदा ही मानव जाति के लिए रहा है, अपने लिए नहीं। और उसे मानव जाति के लिए महान् होना है, अपने लिए नहीं।

"अतः भगवान् ने मुझे यही दूसरी वस्तु दिखाई —उन्होंने मुझे हिन्दू धर्म के मूल सत्य का साक्षात्कार करा दिया। उन्होंने मुझे वन्दी वनाने वालों के हृदय, मेरी ओर मोड़ दिए और उन्होंने जेल-प्रमुख अंग्रेज से कहा—'वह कालकोठरी में कष्ट उठा रहा है। कम-से-कम उसे अपनी कोठरी से वाहर आधा-आधा घंटा प्रातः-सायं टहल लेने दो।' अतः वैसा ही प्रवन्ध हो गया। और मैं जव टहल रहा था तो भगवान् की शक्ति ने फिर मेरे अन्दर प्रवेश किया। मैंने उस जेल की ओर दृष्टि डाली जो मुझे और लोगों से अलग किये हुए था। मैंने देखा कि अव मैं उसकी ऊंची दीवारों के अन्दर वंद नहीं हूं; अव मुझे घेरे हुए थे वासुदेव। मैं अपनी कोठरी के सामने के वृक्ष की शाखाओं के नीचे टहल रहा था किन्तु यह तो वृक्ष नहीं था, मुझे ज्ञात हुआ कि यह स्वयं वासुदेव हैं, यह श्रीकृष्ण हैं, जो मुझे वहां खड़े दिखाई दे रहे हैं और मुझ पर अपनी छाया कर रहे हैं। मैंने अपनी कोठरी के सींखचों पर दृष्टि डाली। पहरेदार को देखा और फिर वासुदेव दिखाई दिए। वह नारायण थे जो पहरा दे रहे थे और संतरी के रूप में मेरे द्वार पर खड़े थे। अथवा जव मैं रूखे कम्वलों पर लेट गया जो मुझे पलंग के स्थान पर मिले थे। मैंने अपने चारों ओर अपने मित्र और प्रेमी श्रीकृष्ण की भुजाओं को अनुभव किया। मुझे उन्होंने जो गहरी दृष्टि दी थी उसका यह प्रथम उपयोग था। मैंने जेल के वन्दियों को देखा, चोरों को, हत्यारों को, ठगों को और जव मैंने उन्हें देखा तो मैंने वासुदेव को देखा। वह नारायण थे जो इन अंधकारपूर्ण आत्माओं और दुष्प्रयुक्त शरीरों में विद्यमान थे। इन चोरों और डाकुओं में अनेक ऐसे थे जिन्होंने अपनी सहानुभूति, कृपा अर्थात्

ऐसी विपरीत परिस्थितियों पर विजय-प्राप्त मानवता से मुझे लज्जित कर दिया। उनमें से एक व्यक्ति को मैंने विशेषतः देखा जो मुझे संत-जैसा लगा। वह मेरे राष्ट्र का एक कृषक था जो लिखना-पढ़ना नहीं जानता था। वह एक अभियुक्त डाकू था जिसे दस वर्ष का कठोर कारावास मिला था, और उनमें से एक था जिन्हें हम बड़प्पन के अहंकार में 'छोटा आदमी' कहकर घृणा करते हैं।

"फिर एक बार भगवान् मुझसे बोले, उन्होंने कहा—'अपना कुछ थोड़ा-सा काम करने के लिए मैंने तुम्हें जिनके बीच भेजा है उन लोगों को देखो। जिस जाति को मैं ऊपर उठा रहा हूं उसका स्वरूप यही है और इसी कारण मैं उसे ऊपर उठा रहा हूं।'

जब छोटी अदालत में मुकदमा प्रारम्भ हुआ और हम मजिस्ट्रेट के सामने लाए गए, तब भी मेरे साथ वही अन्तर्दृष्टि थी। भगवान् ने मुझसे कहा, 'जब तुम जेल में डाले गए थे, तब क्या तुम निराश नहीं हो गए थे और क्या तुमने मुझसे यह नहीं पूछा था कि आपका संरक्षण कहां है? अब देखो मजिस्ट्रेट को, अब देखो सरकारी वकील को!' मैंने देखा और जिसे मैंने देखा, वह मजिस्ट्रेट नहीं था, वासुदेव थे। वह नारायण थे जो पीठासीन थे। मैंने सरकारी वकील की ओर देखा और वह सरकारी वकील नहीं था, जो मैंने देखा, वह श्रीकृष्ण थे। वह मेरे प्रेमी और मित्र श्रीकृष्ण थे जो वहां बैठे थे और मुस्करा रहे थे। उन्होंने कहा—'क्या अब तुम डरते हो? मैं सब मनुष्यों में स्थित हूं, मैं उनके कार्यों और वचनों का शासक हूं। मैं अब भी तुम्हारी रक्षा कर रहा हूं और तुम डरो मत। यह मुकदमा जो तुम्हारे ऊपर चलाया गया है, मेरे ऊपर छोड़ दो। मैं तुम्हें यहां मुकदमे के लिए नहीं लाया अपितु किसी अन्य कार्य के लिए। यह मुकदमा मेरे कार्य के लिए एक माध्यम मात्र है, अधिक कुछ नहीं।' बाद में जब सेशन्स की अदालत में मुकदमा प्रारम्भ हुआ, तो मैं अपने वकील के लिए अनेक निर्देश लिखने लगा—इस विषय में कि मेरे विरुद्ध गवाहियों में क्या-क्या मिथ्या है और किन-किन बातों पर गवाहों से प्रश्न करने चाहिए। तब कुछ ऐसा घटित हुआ जिसकी मुझे संभावना भी न थी। मेरे बचाव के लिए जो प्रबन्ध किए गए थे, अचानक बदल दिए गए और दूसरा वकील मेरे बचाव के लिए खड़ा हो गया। वह अचानक आए, वह मेरे एक मित्र थे किन्तु मुझे पता नहीं था कि वे आ रहे हैं। आप सभी लोग उस व्यक्ति का नाम जानते हैं जिसने मुझे बचाने के लिए सभी अन्य विचारों को दूर कर दिया था, अपनी वकालत छोड़ दी थी और दिन-प्रतिदिन महीनों तक आधी-आधी रात बैठकर अपना स्वास्थ्य नष्ट कर लिया था—श्रीयुत चित्तरंजन दास। जब मैंने उन्हें देखा, मैं संतुष्ट हो गया, किन्तु फिर भी मैंने निर्देश लिखना आवश्यक समझा। तभी वह सब रोक दिया गया और अन्दर से मुझे संदेश मिला—'यह है वह व्यक्ति जो तुम्हारे पैरों में डाले गये फन्दों से तुम्हारी रक्षा करेगा। हटा दो इन कागज़ों को। उसे निर्देश

तुम नहीं दोगे। उसे निर्देश मैं दूंगा।' उस समय से मैंने मुकदमे के सम्बन्ध में अपने वकील से स्वयं एक शब्द भी नहीं कहा, एक निर्देश भी नहीं दिया और यदि कभी मुझ से प्रश्न किया गया, तो मैंने सदैव यह देखा कि मेरा उत्तर मुकदमे में सहायक नहीं होता। मैंने अपने वकील पर छोड़ दिया और उसने इसे पूरी तरह से अपने हाथों में ले लिया। और परिणाम आप जानते ही हैं।

"मैं सदा यह जानता था कि मेरे सम्बन्ध में भगवान् की क्या इच्छा है, क्योंकि मुझे वार-वार यह वाणी सुनाई पड़ती थी, मेरे अन्दर से सदैव यह आवाज़ आया करती थी—'मैं रास्ता दिखा रहा हूं, इसलिए डरो मत ! मैं तुम्हें जिस काम के लिए जेल में लाया हूं अपने उस काम की ओर मुड़ो और जब तुम जेल से बाहर निकलो तो यह याद रखना कि कभी डरना मत, कभी हिचकिचाना मत। याद रखो, यह सब मैं कर रहा हूं, तुम या और कोई नहीं। चाहे जो विपत्तियां आएं, जो चाहे संकट आएं, चाहे जो कठिनाइयां, चाहे जो असंभावनाएं आएं, कुछ भी असंभव नहीं है, कुछ भी कठिन नहीं है।'

"मैं इस राष्ट्र और इसके उत्थान में हूं, मैं वासुदेव हूं, मैं नारायण हूं। जो कुछ मेरी इच्छा होगी, वही होगा, दूसरों की इच्छा नहीं। मैं जिस चीज़ को लाना चाहता हूं उसे कोई मानव शक्ति नहीं रोक सकती।

"इसी मध्य भगवान् मुझे एकान्तवास से बाहर ले आए थे और उनके मध्य रख दिया था जो मेरे साथ ही अभियुक्त बने थे। आज आपने मेरे आत्मत्याग और देश-प्रेम के बारे में बहुत-कुछ कहा है। मैं जब से जेल से निकला हूं तब से इसी प्रकार की बातें सुनता आ रहा हूं, किन्तु ऐसी बातें सुनने में मुझे बड़ी परेशानी होती है, मेरे अन्दर एक तरह की वेदना होती है क्योंकि मैं अपनी दुर्बलता जानता हूं। मैं अपनी त्रुटियों तथा भ्रष्टताओं का शिकार हूं। मैं उनसे पहले भी अनजान नहीं था और जब वे सभी एकान्तवास में मेरे विरुद्ध खड़ी हो गयीं, तो मैंने उनका पूरा-पूरा अनुभव किया। तब मैंने यह जाना कि मैं मनुष्य के रूप में दुर्बलता का पुंज हूं, एक त्रुटिपूर्ण और अपूर्ण यंत्र हूं और तभी सशक्त लगता हूं जब उच्चतर शक्ति मुझमें प्रवेश करती है। तब मैं उन युवकों के बीच में आया और मैंने देखा कि उनमें से बहुतों में एक प्रचण्ड साहस और अपने को मिटा देने की शक्ति है और उनकी तुलना में मैं कुछ भी नहीं हूं। इनमें से एक-दो ऐसे थे जो केवल बल और चरित्र में ही मुझसे बढ़कर नहीं थे—ऐसे तो बहुत थे—बल्कि मैं जिस बुद्धि की योग्यता का अभिमान रखता था, उसमें भी बढ़े हुए थे। भगवान् ने मुझसे फिर कहा, 'यही है वह युवक पीढ़ी, वह नवीन और बलवान राष्ट्र जो मेरे आदेश से ऊपर उठ रहा है। ये तुमसे अधिक महान् हैं। तुम्हें भय किस बात का है ? यदि तुम इस काम से हट जाओ या सो जाओ तो भी काम पूरा होगा। कल तुम इस काम से हटा दिए जाओ तो ये युवक तुम्हारे काम को उठा लेंगे और तुमसे कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से

करेंगे। तुम्हें इस देश को वाणी सुनाने के लिए मुझसे कुछ बल मिला है, वह वाणी इस जाति को ऊपर उठाने में सहायता देगी।' यह वह दूसरी बात थी जो भगवान् ने मुझसे कही।

"इसके बाद अचानक एक बात हुई और क्षण-भर में मुझे एक कालकोठरी में एकान्तवास में पहुंचा दिया गया। इस एकान्तवास में मुझे क्या हुआ, यह कहने की प्रेरणा नहीं हो रही है, बस इतना ही कह सकता हूं कि वहां दिन-प्रतिदिन भगवान् ने अपने चमत्कार दिखाए और मुझे हिन्दू धर्म के वास्तविक सत्य का साक्षात्कार कराया। पहले मेरे अन्दर अनेक प्रकार के सन्देह थे। मेरा लालन-पालन इंग्लैण्ड में विदेशी विचारों और सर्वथा विदेशी वातावरण में हुआ था। एक समय मैं हिन्दू धर्म की बहुत-सी बातों को मात्र कल्पना समझता था। यह समझता था कि इनमें बहुत कुछ केवल स्वप्न, भ्रम या माया है। परन्तु अब दिन-प्रतिदिन मैंने हिन्दू धर्म के सत्य को, अपने मन में, अपने प्राणों में और अपने शरीर में अनुभव किया। वे मेरे लिए जीवित अनुभव हो गए और मेरे सामने ऐसी सब बातें प्रकट होने लगीं जिनके बार में भौतिक विज्ञान कोई व्याख्या नहीं दे सकता। जब मैं पहले-पहल भगवान् के पास गया तो पूरी तरह भक्तिभाव के साथ नहीं गया था, पूरी तरह ज्ञानी के भाव से भी नहीं गया था। बहुत दिन हुए, स्वदेशी आन्दोलन प्रारंभ होने के कुछ वर्ष पहले और बड़ौदा में उनकी ओर बढ़ा था और तभी मैं सार्वजनिक क्षेत्र में आ गया था।

"उन दिनों जब मैं भगवान् की ओर बढ़ा तो मुझे उन पर जीवन्त श्रद्धा न थी। उस समय मेरे अन्दर अज्ञेयवादी था, नास्तिक था, सन्देहवादी था और मुझे पूरी तरह विश्वास न था कि भगवान् हैं भी। मैं उनकी उपस्थिति का अनुभव नहीं करता था। फिर भी कोई चीज़ थी जिसने मुझे वेद के सत्य की ओर, गीता के सत्य की ओर, हिन्दू धर्म के सत्य की ओर आकर्षित किया। मुझे लगा कि इस योग में कहीं पर कोई महाशक्तिशाली सत्य अवश्य है, वेदान्त पर आधारित इस धर्म में कोई परम बलशाली सत्य अवश्य है। इसलिए जब मैं योग की ओर मुड़ा और योगाभ्यास करके यह जानने का संकल्प किया कि मेरी बात सच्ची है या नहीं, तो मैंने उसे इस भाव और इस प्रार्थना से शुरू किया। मैंने कहा, 'हे भगवान् यदि तुम हो तो तुम मेरे हृदय की बात जानते हो। तुम जानते हो कि मैं मुक्ति नहीं मांगता, मैं ऐसी कोई चीज़ नहीं मांगता जो दूसरे मांगा करते हैं। मैं केवल इस जाति को ऊपर उठाने की शक्ति मांगता हूं, मैं केवल यह मांगता हूं कि मुझे इस देश के लोगों के लिए जिनसे मैं प्यार करता हूं, जीने और कर्म करने की आज्ञा मिले और यह प्रार्थना करता हूं कि मैं अपना जीवन उनके लिए लगा सकूं।' मैंने योगसिद्धि पाने के लिए बहुत दिनों तक प्रयास किया और अन्त में किसी हद तक मुझे मिली भी, पर जिस बात के लिए मेरी बहुत अधिक इच्छा थी उसके सम्बन्ध में मुझे सन्तोष नहीं

हुआ। तब उस जेल के, उस कालकोठरी के, एकान्तवास में मैंने उसके लिए फिर से प्रार्थना की। मैंने कहा, 'मुझे अपना आदेश दो, मैं नहीं जानता कि कौन-सा काम करूं और कैसे करूं। मुझे एक सन्देश दो!' इस योगयुक्त अवस्था में मुझे दो सन्देश मिले। पहला यह था, 'मैंने तुम्हें एक काम सौंपा है और वह है इस जाति के उत्थान में सहायता देता। शीघ्र ही वह समय आएगा जब तुम्हें जेल के बाहर जाना होगा; क्योंकि मैं नहीं चाहता कि इस बार तुम्हें सज़ा हो या तुम अपना समय औरों की तरह अपने देश के लिए कष्ट सहते हुए बिताओ। मैंने तुम्हें काम के लिए बुलाया है और यही वह आदेश है जो तुमने मांगा था। मैं तुम्हें आदेश देता हूं कि जाओ और काम करो।' दूसरा सन्देश आया, वह इस प्रकार था, 'इस एक वर्ष के एकान्तवास में तुम्हें कुछ दिखाया गया है, वह चीज़ दिखाई गई है जिसके बारे में तुम्हें सन्देह था, वह है हिन्दू धर्म का सत्य, इसी धर्म को मैं संसार के सामने उठा रहा हूं, यही वह धर्म है जिसे मैंने ऋषि-मुनियों और अवतारों के द्वारा विकसित किया और पूर्ण बनाया है और अब यह धर्म अन्य जातियों में मेरे काम करने के लिए बढ़ रहा है। मैं अपनी वाणी का प्रसार करने के लिए इस जाति को उठा रहा हुं। यही वह सनातन धर्म है जिसे तुम पहले सचमुच नहीं जानते थे, किन्तु जिसे अब मैंने तुम्हारे सामने प्रकट कर दिया है। तुम्हारे अन्दर जो नास्तिकता थी, जो सन्देह था उनका उत्तर दे दिया गया है, क्योंकि मैंने आन्तर और बाह्य, स्थूल और सूक्ष्म, सभी प्रमाण दे दिये हैं और उनसे तुम्हें सन्तोष हो गया है। जब तुम बाहर निकलो तो सदा अपनी जाति को यही वाणी सुनाना कि वे सनातन धर्म के लिए उठ रहे हैं, वे अपने लिए नहीं बल्कि संसार के लिए उठ रहे हैं। मैं उन्हें संसार की सेवा के लिए स्वतन्त्रता दे रहा हूं। अतएव जब यह कहा जाता है कि भारतवर्ष ऊपर उठेगा तो उसका अर्थ होता है सनातन धर्म ऊपर उठेगा। जब कहा जाता है कि भारतवर्ष महान् होगा तो उसका अर्थ होता है सनातन धर्म महान् होगा। जब कहा जाता है कि भारतवर्ष बढ़ेगा और फैलेगा तो इसका अर्थ होता है सनातन धर्म बढ़ेगा और संसार पर छा जायेगा। धर्म के लिए और धर्म के द्वारा ही भारत का अस्तित्व है। धर्म की महिमा बढ़ाने का अर्थ है देश की महिमा बढ़ाना। मैंने तुम्हें दिखा दिया है कि मैं सब जगह हूं, सभी मनुष्यों और सभी वस्तुओं में हूं, मैं इस आन्दोलन में हूं और केवल उन्हीं के अन्दर कार्य नहीं कर रहा जो देश के लिए परिश्रम कर रहे हैं, अपितु उनके अन्दर भी जो उनका विरोध करते और मार्ग में रोड़े अटकाते हैं। मैं प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर काम कर रहा हूं और मनुष्य चाहे जो कुछ सोचे या करे, पर वे मेरे हेतु की सहायता करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते। वे भी मेरा ही काम कर रहे हैं; वे मेरे शत्रु नहीं, बल्कि मेरे यन्त्र हैं। तुम यह जाने बिना भी कि तुम किस ओर जा रहे हो, अपनी सारी क्रियाओं के द्वारा आगे बढ़ रहे हो। तुम करना चाहते हो कुछ और, पर कर बैठते हो कुछ और। तुम एक परिणाम को लक्ष्य

बनाते हो और तुम्हारे प्रयास ऐसे हो जाते हैं जो उससे भिन्न या उल्टे परिणाम लाते हैं। शक्ति का आविर्भाव हुआ है और उसने लोगों में प्रवेश किया है। मैं बहुत समय से इस उत्थान को तैयार कर रहा हूं और अब वह समय आ गया है। अब मैं ही इसे पूर्णता की ओर ले जाऊंगा।'

"यही वह वाणी है जो मुझे आपको सुनानी है। आपकी सभा का नाम है 'धर्म रक्षिणी सभा'। अस्तु, धर्म का संरक्षण, दुनिया के सामने हिन्दू धर्म का संरक्षण और उत्थान —यही कार्य हमारे सामने है। परन्तु हिन्दू धर्म क्या है ? वह धर्म क्या है जिसे हम सनातन धर्म कहते हैं ? वह 'हिन्दू धर्म' कहा जाता है क्योंकि हिन्दू राष्ट्र ने उसको धारण किया है, क्योंकि समुद्र और हिमालय से घिरे हुए इस प्राय-द्वीप के एकान्तवास में यह फला-फूला है, क्योंकि इस पवित्र और प्राचीन भूमि पर इसकी युगों तक रक्षा करने का भार आर्य जाति को सौंपा गया था। परन्तु यह धर्म किसी एक देश की सीमा से घिरा नहीं है, यह संसार के किसी सीमित भाग के साथ विशेष रूप से और सदा के लिए बंधा नहीं है। जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं, वह वास्तव में सनातन धर्म है, क्योंकि यही वह विश्वव्यापी धर्म है जो दूसरे सभी धर्मों का आलिंगन करता है। यदि कोई धर्म विश्वव्यापी न हो तो वह सनातन भी नहीं हो सकता। कोई संकुचित धर्म, साम्प्रदायिक धर्म, अनुदार धर्म कुछ सीमित काल और किसी सीमित हेतु के लिए ही जीवित रह सकता है। यही एक ऐसा धर्म है जो अपने अन्दर वैज्ञानिक आविष्कारों और दर्शन-शास्त्र के चिन्तनों का पूर्वाभास देकर और उन्हें अपने अंदर मिलाकर जड़वाद पर विजय प्राप्त कर सकता है। यही एक धर्म है जो मानव जाति के मन में यह बात बैठा देता है कि भगवान् हमारे निकट हैं और उन सभी साधनों को अपने अन्दर ले लेता है जिनके द्वारा मनुष्य भगवान् के पास पहुंच सकते हैं। यही एक ऐसा धर्म है जो प्रत्येक क्षण, सभी धर्मों के माने हुए इस सत्य पर बल देता है कि भगवान् सभी मनुष्यों और सभी वस्तुओं में हैं तथा हम भगवान् में चलते-फिरते हैं और उन्हींमें हमारी सत्ता है। यही एक धर्म ऐसा है जो इस सत्य को केवल समझने और उस पर विश्वास करने में ही हमारा सहायक नहीं होता बल्कि अपनी सत्ता के अंग-अंग में इसका अनुभव करने में भी हमारी मदद करता है। यही एक धर्म है जो संसार को दिखा देता है और संसार क्या है— वासुदेव की लीला। यही एक धर्म ऐसा है जो हमें यह बताता है कि इस लीला में हम अपनी भूमिका अच्छी-से-अच्छी तरह कैसे निभा सकते हैं, जो हमें यह दिखाता है कि इसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म नियम क्या हैं, इसके महान्-से-महान् विधान कौन से हैं। यही एक ऐसा धर्म है जो जीवन की छोटी-से-छोटी बात को भी धर्म से अलग नहीं करता, जो यह जानता है कि अमरता क्या है और जिसने मृत्यु की यथार्थता को हमारे अन्दर से एकदम निकाल दिया है।

"यही वह वाणी है जो आपको सुनाने के लिए आज मेरे कण्ठ में रख दी गई

थीं। मैं जो कुछ कहना चाहता था, वह तो मुझसे अलग कर दिया गया और जो मुझे कहने के लिए दिया गया है उससे अधिक मेरे पास कहने के लिए कुछ नहीं है। जो वाणी मेरे अन्दर रख दी गई थी केवल वही आपको सुना सकता हूं। अब वह समाप्त हो चुकी है। पहले भी एक बार जब मेरे अन्दर यही शक्ति काम कर रही थी तो मैंने आपसे कहा था कि यह आन्दोलन राजनीतिक आन्दोलन नहीं है और राष्ट्रीयता राजनीति नहीं है, अपितु एक धर्म है, एक विश्वास है, एक निष्ठा है। उसी बात को आज मैं फिर दोहराता हूं, किन्तु आज मैं उसे दूसरे ही रूप में उपस्थित कर रहा हूं। आज मैं यह नहीं कहता कि राष्ट्रीयता एक विश्वास है, एक धर्म है, एक निष्ठा है; बल्कि मैं यह कहता हूं कि सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रीयता है। यह हिन्दू राष्ट्र सनातन धर्म को लेकर ही पैदा हुआ है, उसी को लेकर चलता है और उसी को लेकर विकसित होता है। जब सनातन धर्म की हानि होती है तब इसकी अवनति होती है और यदि सनातन धर्म का विनाश सम्भव होता तो सनातन धर्म के साथ-ही-साथ इस राष्ट्र का विनाश हो जाता। सनातन धर्म ही है राष्ट्रीयता। यही वह सन्देश है जो मुझे आपको सुनाना है!"

परिशिष्ट (ख)

श्री अरविन्दद्वारा १५ अगस्त, १९४७ को दिया गया संदेश

१५ अगस्त स्वाधीन भारत का जन्मदिन है। यह दिन भारतवर्ष के लिए एक प्राचीन युग का अन्त और एक नवीन युग का प्रारम्भ सूचित करता है। परन्तु यह दिन केवल हमारे लिए ही नहीं वरन् एशिया के लिए और समस्त संसार के लिए भी एक अर्थ रखता है; और वह अर्थ यह है कि इस दिन संसार के राष्ट्र-समाज के अन्दर एक नयी राष्ट्र-शक्ति प्रवेश कर रही है जिसमें अगणित संभावनाएं निहित हैं और जिसे मनुष्य-जाति के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भविष्य की रचना करने में एक महान कार्य करना है। व्यक्तिगत रूप से तो मुझे इस बात से स्वभावतः ही प्रसन्नता होगी कि जो दिन, मेरा अपना जन्म-दिन होने के कारण, केवल मेरे लिए ही स्मरणीय था और जिसे वे ही लोग प्रति-वर्ष मनाया करते थे जिन्होंने जीवन-सम्बन्धी मेरी शिक्षा को स्वीकार किया है, उसी दिन को आज इतना विशाल अर्थ प्राप्त हुआ है। एक अध्यात्मवादी के नाते मैं इन दोनों दिनों के एक हो जाने को केवल एक संयोग या आकस्मिक घटना नहीं मानता, बल्कि मैं यह मानता हूं कि इसके द्वारा भागवत शक्ति ने—जो मेरा पथ-प्रदर्शन करती है—उस कार्य के लिए अपनी स्वीकृति दे दी है तथा उस पर अपने आशीर्वाद की मुहर-छाप लगा दी है जिसको लेकर मैंने अपना जीवन आरम्भ किया था। वास्तव में संसार के वे प्रायः सभी आन्दोलन, जिन्हें मैंने अपने जीवन-काल में ही सफल होते हुए देखने की आशा की थी और जो उस समय असंभव स्वप्न-से ही प्रतीत होते थे, आज दिन मैं देख रहा हूं कि, या तो अपनी सफलता के समीप पहुंच रहे हैं या उनका कार्य आरम्भ हो गया है और वे अपनी सफलता के मार्ग पर अग्र-सर हो रहे हैं।

आज के इस महान अवसर पर मुझसे एक सन्देश मांगा गया है। परन्तु अभी सम्भवतः मैं कोई सन्देश देने की स्थिति में नहीं हूं। अधिक-से-अधिक आज मैं उन उद्देश्यों और आदर्शों की व्यक्तिगत रूप से घोषणा-भर कर सकता हूं जिन्हें मैंने

अपने बाल्य और युवाकाल में अपनाया था और जिन्हें अब मैं सफलता की ओर जाते हुए देख रहा हूं; क्योंकि भारत की स्वाधीनता के साथ उनका घनिष्ठ संबंध है—वे उस कार्य का ही एक अंग हैं जिसे मैं भारत का भावी कार्य मानता हूं और जिसमें भारत नेता का स्थान ग्रहण किए बिना नहीं रह सकता। मैं निरन्तर यह मानता और कहता आ रहा हूं कि भारत उठ रहा है और वह केवल अपने ही भौतिक स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए नहीं, अपनी ही प्रसारता, महत्ता, सामर्थ्य और सम्पदा-अर्जन करने के लिए नहीं—यद्यपि इन सबकी भी उसे उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, और निश्चय ही अन्य राष्ट्रों तरह दूसरी-दूसरी जातियों पर अधिकार स्थापित करने के लिए नहीं, बल्कि साथ ही भगवान् के लिए, जगत के लिए, समस्त मानव-जाति के सहायक और नेता के रूप में जीवन-यापन करने के लिए उठ रहा है। वे उद्देश्य और आदर्श अपने स्वाभाविक क्रम में इस प्रकार हैं—(१) एक क्रांति, जिसके द्वारा भारत को स्वतंत्रता और एकता प्राप्त हो; (२) एशिया का पुनः जागरित होना और स्वाधीन होना तथा मानव-सभ्यता की क्रमोन्नति के लिए उसने एक समय जैसे महान कार्य किया था, वैसे ही फिर से उसका कार्य करने लगना; (३) मनुष्य-जाति के लिए एक नवीनतर, महत्तर, उज्ज्वलतर और उन्नततर जीवनधारा का विकास, जो अपनी सम्पूर्ण सिद्धि के लिए बाह्यतःसभी जातियों की पृथक्-पृथक् सत्ता के एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण पर निर्भर करेगा जो एकीकरण विभिन्न जातियों के राष्ट्रीय जीवन को तो सुरक्षित और अक्षुण्ण रखेगा पर उन्हें एक सर्वोपरि और अन्तिम एकता के अन्दर एक साथ बांध रखेगा; (४) भारत का समस्त मनुष्य-जाति को अपना आध्यात्मिक ज्ञान और जीवन को आध्यात्मिक बनाने की साधना प्रदान करना; और अंत में (५) क्रम-विकास के अन्दर एक पग और आगे बढ़ जाना, जिसके फलस्वरूप चेतना एक उच्चतर स्तर में ऊपर उठ जाएगी और जीवन की उन अगणित समस्याओं का समाधान होना आरम्भ हो जाएगा जो मनुष्य को तब से व्यथित और विभ्रांत कर रही हैं जब से उसने व्यक्तिगत पूर्णता तथा सर्वांग-सुन्दर समाज के विषय में चिन्तन करना और स्वप्न देखना आरम्भ किया था।

भारत स्वतन्त्र हो गया है पर उसने एकता नहीं प्राप्त की है, केवल टूटी-फूटी छिन्न-भिन्न स्वतन्त्रता ही उसने प्राप्त की है। एक समय तो प्रायः ऐसा ही मालूम होता था कि वह फिर से अलग-अलग राज्यों की उस अस्तव्यस्त अवस्था में ही जा गिरेगा जो अवस्था अंग्रेजों की विजय के समय थी। परन्तु सौभाग्यवश अब एक ऐसी प्रबल संभावना उत्पन्न हो गयी है जो उसे उस विपज्जनक अवस्था में गिर जाने से बचा लेगी। संविधान-परिषद की कौशलपूर्ण प्रबल नीति ने यह संभव बना दिया है कि पददलित जातियों का प्रश्न बिना किसी विरोध या मतभेद के हल हो जाएगा। परन्तु हिन्दू और मुसलमानों का पुराना साम्प्रदायिक विभेद मानो इतना

घना हो गया है कि उसने देश के एक स्थायी राजनीतिक विभाजन का ही रूप धारण कर लिया है। हम आशा करते हैं कि कांग्रेस और हमारे देशवासी इस निर्णय को स्थायी निर्णय नहीं मानेंगे। अथवा एक सामयिक व्यवस्था से अधिक और कुछ नहीं समझेंगे। क्योंकि अगर यह विभाजन बराबर बना रहा तो भारत बुरी तरह दुर्बल हो सकता है और यहां तक कि पंगु भी हो सकता है; फिर गृह-कलह की सम्भावना बराबर ही बनी रह सकती है और यह भी संभव हो सकता है कि इस पर बाहर से आक्रमण हो और यहां फिर से विदेशी राज्य स्थापित हो जाए। अतएव देश का विभाजन अवश्य दूर होना चाहिए---आशा है कि यह या तो विरोध की तीव्रता के धीरे-धीरे कम होने से दूर होगा, या शांति तथा मेल-मिलाप की आवश्यकता को क्रमशः हृदयंगम करने से होगा अथवा एक कार्य को एक साथ मिल कर करने की सतत आवश्यकता को, यहां तक कि उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए एकत्वसाधक एक यन्त्र की आवश्यकता को अनुभव करने से होगा। इस तरह एकता स्थापित हो सकती है, भले ही उसका रूप चाहे जो हो---उसके वास्तविक स्वरूप का कोई व्यावहारिक मूल्य भले ही हो, तत्त्वतः उसका कोई मूल्य नहीं। परन्तु चाहे जिस किसी उपाय से क्यों न हो, विभाजन अवश्य दूर होना चाहिए और दूर होकर ही रहेगा। क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो भारत का भविष्य बुरी तरह क्षय हो सकता है और व्यर्थ तक हो सकता है। परन्तु वैसा कभी नहीं होने देना चाहिए।

एशिया जाग गया है और उसके अधिकांश भाग स्वतन्त्र हो गए हैं अथवा इस समय स्वतन्त्र हो रहे हैं; उसके अन्य भाग, जो अभी परतन्त्र हैं, चाहे जितने भी संघर्ष में से क्यों न हो, वे भी स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। बस, थोड़ा-सा ही कार्य शेष है और वह आज या कल पूरा हो जाएगा। इस क्षेत्र में भी भारत को कुछ कार्य करना है और उस कार्य को उसने एक ऐसी शक्ति और योग्यता के साथ करना आरम्भ कर दिया है कि वह यह बात तो सूचित कर रही है कि उसके अन्दर क्या-क्या संभावनाएं निहित हैं तथा विश्व की राष्ट्र-परिषद में वह कौन-सा स्थान ग्रहण करेगा।

मनुष्य-जाति का एकीकरण आरम्भ हो गया है, यद्यपि उसका प्रारम्भ दोषपूर्ण है; एक बाह्य व्यवस्था स्थापित हुई है परन्तु महान कठिनाइयों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ रहा है। परन्तु वेग उसमें है, और, यदि इतिहास के अनुभव को अपना पथ-प्रदर्शक बनाया जाय तो वह अनिवार्य रूप से तब तक बढ़ता जाएगा जब तक वह अपना काम पूरा नहीं कर लेता। इस विषय में भी भारत ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य करना आरम्भ कर दिया है और, यदि वह उस विशालतर राजनीतिज्ञता को विकसित करे जो आधुनिक घटनाओं तथा निकटतर संभावनाओं से ही सीमित नहीं होती बल्कि भविष्य को भी देखती तथा उसे निकटतर ले आती है

तो, उसकी उपस्थिति इस बात को स्पष्ट दिखा सकती है कि एक मंथर और सशंक गति तथा एक क्षिप्र और निर्भीक गति में क्या अन्तर होता है। संभव है कि इस क्षेत्र में कोई उपद्रव हठात् उठ खड़ा हो और जो कुछ किया जा रहा है उसे रोक दे या नष्ट कर दे, परन्तु फिर भी इसका अन्तिम फल सुनिश्चित है। क्योंकि, चाहे जो हो, एकीकरण, प्रकृति की धारा के अन्दर एक आवश्यक चीज है, एक अनिवार्य गति है और इसकी संसिद्धि के विषय में निस्सन्देह भविष्यवाणी की जा सकती है। इसकी आवश्यकता सभी राष्ट्रों को है—यह भी स्पष्ट है, क्योंकि इसके बिना छोटी-छोटी जातियों की स्वतन्त्रता अब कभी निरापद नहीं रह सकती और बड़े-बड़े तथा शक्तिशाली राष्ट्र तक भी वास्तव में कभी सुरक्षित नहीं रह सकते। अगर भारत विभक्त बना रहा तो वह स्वयं अपनी रक्षा के विषय में भी निस्सन्देह नहीं हो सकता। अतएव इसी बात में सबकी भलाई है कि एकता स्थापित हो। एकमात्र मनुष्य की घोर असमर्थता तथा मूढ़ स्वार्थपरता ही इसे रोक सकती है। मनुष्य के इन दुर्गुणों के सामने, कहते हैं कि, देवताओं का प्रयास भी व्यर्थ हो जाता है; परन्तु प्रकृति की आवश्यकता तथा भागवत संकल्प के विरुद्ध ये चीज़ें भी बराबर नहीं टिक सकतीं। इस तरह राष्ट्रीयता अपनी पूर्णता को प्राप्त करेगी; एक अन्तर्राष्ट्रीय भाव और दृष्टि उत्पन्न होगी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाएं और संस्थाएं गठित होंगी। यहां तक कि ऐसे परिवर्तन भी उपस्थित हो सकते हैं जिनके कारण एक आदमी एक साथ ही दो देशों या कई देशों की नागरिकता को प्राप्त करे और परिवर्तन की प्रक्रिया के अन्दर विभिन्न देशों की संस्कृतियां स्वेच्छापूर्वक एक-दूसरी के साथ घुल-मिलकर एक हो जाएं और राष्ट्रीयता का भाव अपनी युद्धप्रियता को त्याग कर यह अनुभव करने लगे कि वह अपनी निजी दृष्टि को अक्षुण्ण रखते हुए भी इन सब चीज़ों को पूर्ण मात्रा में ग्रहण कर सकता है। एकता का एक नवीन भाव समस्त मनुष्य-जाति को अभिभूत कर डालेगा।

भारत ने सारे संसार को अपना आध्यात्मिक दान देना आरम्भ कर दिया है। भारत की आध्यात्मिकता यूरोप और अमेरिका में अधिकाधिक मात्रा में प्रवेश कर रही है। इसकी गति दिन-दिन बढ़ती ही जाएगी। इस युग की दुर्घटनाओं के बीच लोगों की आंखें आशा के साथ अधिकाधिक उसकी ओर मुड़ रही हैं और लोग केवल उसके शास्त्रों का ही नहीं, बरन् उसकी आंतरिक और आध्यात्मिक साधना का भी अधिकाधिक आश्रय ग्रहण कर रहे है।

अब जो शेष है वह अभी तक एक व्यक्तिगत आशा, भावना और आदर्श की ही बात है। पर इसको भी भारत में तथा पाश्चात्य देशों में उन लोगों ने धीरे-धीरे ग्रहण करना आरम्भ कर दिया है जिनकी बुद्धि भविष्य को देखने में समर्थ है। अवश्य ही मानव-प्रयास के अन्यान्य क्षेत्रों की अपेक्षा इस क्षेत्र में कहीं अधिक कठिनाइयां मौजूद हैं, परन्तु कठिनाइयां पार करने के लिए ही बनी हैं और यदि

इसके लिए परम प्रभु ने संकल्प किया है तो वे पार की ही जाएंगी। यहां भी, अगर यह क्रम-विकास साधित होने को है तो, और, चूंकि यह आत्मा में तथा आंतर चेतना में क्रमशः वर्द्धित होने से ही साधित हो सकता है इसलिए, इसका भी सूत्रपात भारत में ही हो सकता है और यद्यपि इसका क्षेत्र सारा विश्व होगा, फिर भी इसका केन्द्र भारत ही हो सकता है।

आज भारत के इस स्वाधीनता-दिवस के साथ मैं इन्हीं भावनाओं को मुक्त कर रहा हूं। पर ये सब भावनाएं सिद्ध होंगी या नहीं या कहां तक अथवा कितना शीघ्र सिद्ध होंगी—यह सब इस नवीन और स्वतन्त्र भारत पर निर्भर करता है।

०००